

भाई गुरदास

राधास्वामी सत्संग ब्यास

ॐ नमः शिवाय ॐ
Charitable Trust
WZ-5A/1, Ram Nagar,
Choukhandi Chowk,
New Delhi-110018

विषय सूची

प्रकाशक की ओर से	7
पाठकों से निवेदन	9
भूमिका	11
जीवन यात्रा	13
उपदेश	
1. आदिपुरुष	29
2. गुरुदेव	39
3. नाम	100
4. आदर्श शिष्य	138
5. सत्संगति	171
6. विविध विषय	181
मन	181
इंद्रियों के रस	188
बुरी आदतें	189
तृष्णा	191
कपटपूर्ण स्नेह	193
विद्या और वाद-विवाद	194
निंदा	195
कर्मों की धरती	198

संसार की असारता	200
मनुष्य-शरीर	201
स्नान	202
पाना और छिपाना	206
मानस की सब जात एक	206
तीसरी आँख	208
 7. सारांश	 215
 संदर्भ सूची	 219
संदर्भ ग्रंथ	228
परमार्थ संबंधी पुस्तकें	229

जीवन यात्रा

यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि कथा साहित्य में नामों और तिथियों के अलावा सब कुछ यथार्थ होता है और इसके विपरीत, इतिहास में तिथियों और नामों के अलावा सब कुछ ग़लत होता है। परंतु आश्चर्य की बात है कि जब हम भाई गुरुदास के जीवन पर विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के बारे में कोई विशेष मतभेद नहीं है, पर तिथियों और नामों के बारे में प्रयत्न करने पर भी हमें एक समान मत प्राप्त नहीं होता।

उदाहरण के लिये, डॉक्टर गंडा सिंह की खोज के अनुसार आप दातारचन्द और सुखदेई के सुपुत्र थे, डॉक्टर सरदूल सिंह का मत है कि आपके पिता दातारचन्द थे और माता का नाम जीवनी था, जबकि केसर सिंह छिब्बर के अनुसार आप ईशरदास भल्ला की संतान थे। प्रोफ़ेसर सन्त सिंह सेखों आपकी जन्मभूमि होने का गौरव गिलवाली नामक गाँव को देते हैं, पर भाई रणधीर सिंह और अन्य कई विद्वानों के अनुसार उक्त स्थान गोइंदवाल था।

भाई वीर सिंह जी की बात मानें तो आपका जन्म संवत् 1600 में होना संभव है, इसके विपरीत प्रोफ़ेसर सरदूल सिंह आपका जन्म संवत् 1615 मानते हैं। इस तरह दोनों कथनों में पंद्रह वर्ष का अंतर है। डॉक्टर रतन सिंह जग्गी के विचार में भाई रणधीर सिंह द्वारा निश्चित संवत् 1608 अधिक विश्वसनीय है। इसी प्रकार का मतभेद आपके मृत्युकाल के संबंध में भी है। ज्ञानी ज्ञान सिंह बताते हैं कि आपका देहांत संवत् 1686 में हुआ, जबकि प्रोफ़ेसर सरदूल सिंह ने आपके देहांत का वर्ष विक्रमी संवत् 1696

माना है। भाई काहन सिंह और भाई रणधीर सिंह संवत् 1694 को आपका मृत्युकाल मानने के पक्ष में हैं।

सौभाग्य से यह बात विवाद का विषय नहीं बनी कि बासर के निवासी हरि जी के पिता विशनदास भल्ला थे और हरि जी के तीन पुत्र थे—तेजभान, भानचन्द और चन्द्रभान। सबसे बड़े तेजभान के घर में गुरु अमरदास जी ने जन्म लिया और चन्द्रभान के घर में दातारचन्द और ईशरदास ने। सो भाई गुरदास चाहे दातारचन्द के सुपुत्र हों या ईशरदास के, हर प्रकार से वे तीसरे पातशाह श्री गुरु अमरदास जी के पिता के पौत्र अर्थात् गुरु अमरदास जी के भतीजे थे। हमारे उद्देश्य के लिये इतनी ही जानकारी काफी है, उनके माता-पिता के नामों का पक्के तौर से पता न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

जहाँ तक तिथियों का संबंध है, डॉक्टर गंडा सिंह, भाई रणधीर सिंह, प्रोफ़ेसर संत सिंह सेखों और डॉक्टर रतन सिंह जग्गी, भाई साहिब के जन्म का वर्ष विक्रमी 1608 होने के पक्ष में हैं और इस नतीजे पर पहुँचने के लिये उन्होंने भाई वीर सिंह की खोज को बिना किसी संकोच के स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ कि सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए भाई गुरदास जी का जन्म संवत् 1608 को ही स्वीकार कर लेना उचित है। डॉक्टर दर्शन सिंह अन्य कई विद्वानों की राय से सहमत होकर भट्टों की बही (तलौंडा, परगना जींद) की गवाही को प्राथमिकता देकर भाई साहिब का देहांत भादों सुदी पंचमी संवत् 1693 को होना निश्चित करते हैं। मेरी राय में उनका यह निर्णय सही है।

गुरु अमरदास जी का जन्म संवत् 1536 में हुआ। आप संवत् 1597 में गुरु अंगद साहिब की संगति में आये और बारह वर्ष की अद्वितीय श्रद्धापूर्ण सेवा और गुरुमुखता के कारण संवत् 1609 में गुरुगद्दी के अधिकारी बनाये गये। प्रारंभिक वर्षों के संपर्क के दौरान आप अपने सतगुरु के ऐसे विश्वासपात्र बन चुके थे कि संवत् 1603 में आपको गोइंदवाल आबाद करने की आज्ञा हुई। इस स्थिति में स्वाभाविक था कि आपका सारा परिवार (भाइयों सहित) आपके साथ गोइंदवाल में जाकर

बस जाता। भाई गुरदास के पूर्वजों का गुरु साहिबान से निकट संपर्क और उनके प्रभाव में रहने की गवाही, आपको दिये गये नाम 'गुरु-दास' से भलीभाँति मिलती है।

जैसा कि इतिहासकार बताते हैं कि भाई साहिब के कोई बहन-भाई नहीं थे, माता की छत्रछाया भी आपके सिर से बचपन में तीन वर्ष के बाद ही उठ गई थी और बारह वर्ष की अवस्था में आपके पिता का भी देहांत हो गया था। माता-पिता का यह असमय बिछोह दुःखदायी तो अवश्य रहा होगा, पर वह आपके मानसिक और आत्मिक विकास के मार्ग में रुकावट न बन सका।

गोइंदवाल नगर शेरशाह सूरी द्वारा पक्के किये राजमार्ग के किनारे बसा हुआ था और गुरु अमरदास जी की बख्शिश से यह सिक्ख संगत के अलावा अन्य मतों के अनुयायियों के लिये भी दिलचस्पी का केंद्र बन गया था। ऐसे स्थान पर विद्वानों का आना और निवास करना स्वाभाविक था। उनके सहयोग के कारण बहुपक्षीय विद्या और शिक्षा के साधन अपने आप सुलभ हो गये। भाई गुरदास जी ने इस सुविधा का पूरा लाभ उठाया और आप न केवल पंजाबी, हिंदी, संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं में ही निपुण हुए, बल्कि आपने अलग-अलग धर्मों और संप्रदायों के ग्रंथ-शास्त्रों का भी पूर्ण अध्ययन कर लिया।

माना जाता है कि लंगर की प्रथा गुरु अमरदास जी ने शुरू की थी। गुरु के घर आनेवाले स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब, कुलीन और साधारण जन बिना किसी भेदभाव के, मानवता के नाते एक ही पंगत में बैठकर भोजन किया करते थे।

भाई गुरदास ने अनुभव किया कि परम त्यागी गुरु अर्जुन साहिब तो हर पल अकालपुरुष में लिव लगाये रखते हैं और पिरथीचन्द* द्वारा की हुई धौंधली की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। अगर इसका कोई उपाय न किया गया तो संगत के गुमराह होने का बड़ा भारी खतरा पैदा हो जायेगा

* श्री गुरु अर्जुन साहिब का सगा भाई।

और शिष्यत्व के आदर्श पर आँच आयेगी। इसलिये आपने बाबा बुड़्ढा जैसे प्रमुख शिष्यों से परामर्श करके विरोधी तत्त्वों के कुप्रयासों को निष्फल करने का बीड़ा उठाया। आपने जगह-जगह जाकर गलतफ़हमियों में फँसे भोले-भाले जीवों को सही जानकारी दी और उनको अपनी हक्र-हलाल की कमाई का दसवाँ भाग सेवा में समर्पण करने के लिये प्रेरित किया। इस दसवंध* की राशि को इकट्ठा करके अमृतसर पहुँचाने के लिये उन्होंने अलग-अलग क्षेत्रों के लिये अलग-अलग 'मसंद' (दसवंध इकट्ठा करनेवाले) नियुक्त किये। परिणामस्वरूप गुरु का लंगर ही भलीभाँति फिर से शुरू नहीं हुआ, बल्कि निर्माण कार्यों के लिये भी धन की कमी नहीं रही। पिरथीचन्द के विरोध का अंत करने के इरादे से आपने उसे गुरु के बाज़ार के किराये और जगात (टैक्स) का अधिकारी बनवा दिया तथा गुरु साहिब के मँझले भाई महादेव को चौक पासियाँ वाली संपत्ति की ज़िम्मेदारी दिलवा दी। यह अलग बात है कि मनमुख सीधे रास्ते पर नहीं चलते और पिरथीचन्द ने फिर भी अपने कारनामे पहले की तरह ही जारी रखे। काफ़ी सोच-विचार के बाद भाई साहिब उसे उसकी भूल जताने के लिये स्वयं उसके पास गये, पर वह उलटा आपका ही अपमान करने पर उतारू हो गया।

पिरथीचन्द ने जब गुरु अर्जुन साहिब के मुक़ाबले में अलग गद्दी क़ायम कर ली तो उसे यह भी आवश्यक प्रतीत होने लगा कि उसके पास अपने साथियों को दिखाने के लिये गुरु साहिब जैसी ही वाणी की पुस्तक होनी चाहिये। उसने पहले हो चुके गुरु साहिबान की वाणी की नक़ल काफ़ी मात्रा में इधर-उधर से करवा ली और गुरु अर्जुन साहिब की अपनी वाणी न मिल सकने के कारण जो कमी पैदा हुई उसकी पूर्ति उसका पुत्र मिहरबान करने लगा। वह आम धार्मिक छंदों की रचना करता और उसमें लेखक के तौर पर 'नानक' शब्द का प्रयोग कर देता। इस बात से अनजान लोग जब ऐसी कोई रचना को सुनते तो उसका रचनाकार कौन है,

* कमाई का दसवाँ हिस्सा।

इसका निर्णय करने में कठिनाई का अनुभव करते। यों भी आवश्यक था कि गुरु नानक साहिब और उनके तीनों उत्तराधिकारियों के वचन, जो अनंत काल तक परमार्थ के जिज्ञासुओं के लिये ज्योति-स्तंभ की भाँति पथ प्रदर्शन करने के लिये कहे गये थे, वे सब और देर किये बिना सँभाल लिये जायें। इन परिस्थितियों में गुरु अर्जुन साहिब ने भाई गुरदास, बाबा बुड़्ढा और कुछ अन्य सुलझे हुए शिष्यों को गुरु साहिबानों की वाणी को हर संभव स्थान से एकत्रित करने का आदेश दिया। अथक परिश्रम के बाद जब वह इकट्ठी हो गई तो उसकी पांडुलिपि चार चुने हुए लेखकों से तैयार करवाई गई। फिर उसमें संशोधन कर लेने के बाद कुछ संतों के वचनों को गुरु अर्जुन साहिब की अपनी वाणी सहित रागों के अनुसार उचित क्रम देकर रामसर में श्री आदि ग्रन्थ साहिब की अंतिम रूप से तैयारी आरंभ हुई। वाणी लिखते थे भाई गुरदास, लिखवाते थे अपने श्रीमुख से स्वयं गुरु अर्जुन देव जी महाराज। यह कार्य, स्वयं भाई साहिब द्वारा की गई पुष्टि के अनुसार विक्रमी संवत् 1661 में संपूर्ण हुआ।

यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भाई गुरदास धुरंधर विद्वान् ही नहीं, एक प्रतिभाशाली कवि भी थे। उन्हें गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुन साहिब की पावन संगति प्राप्त हुई थी। उन्होंने इन महापुरुषों का उपदेश केवल सुना ही नहीं, बल्कि अपने रोम-रोम में रचाया और पल-पल उसका पालन किया था। इसलिये वे इस उपदेश की प्रामाणिक और सशक्त व्याख्या करने में पूरी तरह योग्य थे। गुरु साहिब के उच्चारित शब्द, क्या चौपदे, क्या अष्टपदियाँ, प्रायः अपने आपमें एक पूरा सत्संग होते थे। गागर में समाये सागर की भाँति उनमें संतमत्ता का संपूर्ण दर्शन भरा होता था। इसी लिये उनकी वाणी बहुत हद तक सूत्र रूप में होती थी। कम सूझ वाले पाठकों और श्रोताओं को उनके अंदर छिपे भाव तक पहुँचाने के लिये उनको सरल बनाने की ज़रूरत महसूस होती थी। भाई गुरदास ने वारें लिखीं, कबित्त तथा सवैये रचे और इस प्रकार आपने पंजाबी और हिंदी जाननेवाले जिज्ञासुओं के लिये गुरु साहिबान के उपदेश को जानना और समझना आसान ही नहीं कर दिया बल्कि

अपनी दलीलों, उपमाओं, अलंकारों आदि की सहायता से उसे अधिक प्रभावशाली भी बना दिया।

‘तवारीख गुरु खालसा’ और अन्य विश्वसनीय ऐतिहासिक स्रोतों के अनुसार जब बादशाह अकबर पंजाब की ओर आया तो गुरु साहिबान के विरोधियों ने उसके कान भरे कि पाँचवें पातशाह श्री गुरु अर्जुन साहिब के तैयार किये गये धार्मिक ग्रंथ में हज़रत मुहम्मद और इसलाम के प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह सुनकर उसने गुरु साहिब को उक्त आरोप का उत्तर देने के लिये बटाला हाज़िर होने का संदेश भेजा।

गुरु साहिब खुद तो वहाँ नहीं गये। अपनी जगह भाई गुरदास और बाबा बुड़ढा जैसे कुछ विद्वान् शिष्यों को भेज दिया। अकबर ने अपने सामने भाई साहिब से अलग-अलग स्थानों से वाणी पढ़वाई तो खाक नूर करदं आलम दुनीआए॥ असमान ज़िमी दरखत आब पैदाइस खुदाए॥¹ और अलह अगम खुदाई बंदे॥ छोड खिआल दुनीआ के धंधे॥² जैसे शब्द सुनने को मिले। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्मुख उसे गुरु अर्जुन साहिब पर लगाया गया आरोप पूरी तरह निराधार होने का यक़ीन हो गया और उसने न केवल भाई साहिब, बाबा बुड़ढा और उनके साथियों को ही शॉलें ओढ़ाकर सम्मानित किया, बल्कि उक्त पावन ग्रंथ के लिये भी 51 मोहरें दीं और गुरु साहिब के लिये भी ख़िल्अत* भेंट की।

भाई गुरदास गुरु अमरदास जी के निकट संबंधी थे और आपको गुरु अमरदास जी से दीक्षा की दात प्राप्त हुई थी। आप दोनों गुरु साहिबान (गुरु अंगद देव जी और गुरु रामदास जी) के अलावा गुरु अर्जुन साहिब की गुरुआई के पूरे काल के दौरान उनकी संगति में रहे थे और उनके इतने विश्वासपात्र बन गये कि उन्होंने आपको श्री आदि ग्रन्थ को क़लमबंद करने के लिये चुना और फिर बाल गुरु हरगोबिन्द साहिब की सेवा और सँभाल करने की ज़िम्मेदारी सौंपी। आप प्रचलित धर्मों के साहित्य का भलीभाँति अध्ययन कर चुके थे और अलग-अलग गुरु साहिबान की

* राजा की ओर से सम्मानार्थ दिये जानेवाले वस्त्र आदि।

आज्ञानुसार निकट और दूर के अनेक स्थानों पर सत्संग के लिये भेजे जाते थे। आपकी अपनी रची वाणी आपकी विद्वत्ता की साक्षी के तौर पर मौजूद थी। ऐसी पृष्ठभूमि में कोई आश्चर्य की बात न थी कि आपको विश्वास हो गया कि मैं एक सच्चा शिष्य होने की सभी शर्तें पूरी करता हूँ और अगर कभी मेरे विश्वास की परीक्षा ली जाये तो मैं उसमें अवश्य पूरा उतरूँगा।

इस आत्मविश्वास ने, जिसे शायद निराधार नहीं कहा जा सकता, आपसे निम्नलिखित पौड़ी लिखवा दी, जिसमें आपने गुरु साहिबान के अनुयायियों को चेतावनी दी थी कि वे अपना विश्वास हर हालत में पक्का रखें और उससे कभी विचलित न हों:

जे मां होवै जारनी* किउ पुतु पतारे†।

गाई माणकु निगलिआ पेटु पाड़ि न मारे।

जे पिरु बहु घरु हंडणा सतु रखै नारे।

अमरु‡ चलावै चंम दे चाकर वेचारे।

जे मरु§ पीता बामणी लोइ लुझणि॥ सारे।

जे गुर सांगि वरतदा सिखु सिदकु न हारे॥**³

अगर माँ चरित्रहीन हो तो पुत्र को विचार नहीं करना चाहिये। न माँ को सज़ा देनी चाहिये और न ही उसका साथ छोड़ना चाहिये। अगर गाय हीरा खा जाये तो उसका पेट नहीं फाड़ना चाहिये। अगर पति बाहर पराई स्त्रियों के पास जाता है तो उसकी पत्नी को उसकी नक़ल नहीं करनी चाहिये, बल्कि पतिव्रत रखना चाहिये। राजा चमड़े के सिक्के चलाए,

* व्यभिचार करनेवाली।

† निंदा न करे।

‡ हुक्म।

§ शराब।

॥ ढकते हैं।

** पूरी घटना के विवरण के लिये देखें ‘परमार्थी साखियाँ’ में ‘गुरु का चोर’।

ब्राह्मणी शराब पिये तो लोग मजबूर हैं। अगर गुरु कौतुक दिखाये तो शिष्य को डोलना नहीं चाहिये। इस प्रकार इन सब उदाहरणों के द्वारा आप शिष्य को अडोल रहने की हिदायत दे रहे थे।

ऐसा करते हुए दुर्भाग्य से आपसे एक भूल हो गई। आत्मविश्वास की अधिकता के प्रभाववश आपने अपनी कही बातों की परीक्षा का घेरा कुछ ज़्यादा ही बड़ा कर लिया। आप तो एक बड़े बोल के रूप में यह भी कह गये कि यदि शिष्य की श्रद्धा को परखने के लिये खुद सतगुरु भी कोई कौतुक कर रहा हो, तो भी शिष्य को चाहिये कि वह अपने विश्वास और भरोसे को पक्का और दृढ़ रखे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शिष्य गुरु के रचे हुए खेल में उनका मुकाबला करे और उनसे हारे नहीं। भाई साहिब के इस कथन में अहं की झलक मिलती है और अहं उच्चकोटि के परमार्थियों को भी पथभ्रष्ट कर देता है।

दूसरी ओर यह भी सच है कि सतगुरु शिष्य को भँवर में छोड़ने के लिये उसका हाथ नहीं पकड़ते। वे उसकी सब कच्ची-पक्की मलिनताओं को मिटाकर उसे विशुद्ध सोना बनाना चाहते हैं। भाई गुरदास तो स्वयं साधारण जीवों के सामने एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किये जानेवाले शिष्यों में से एक थे। इसलिये उनके उज्ज्वल दामन पर पड़े अहं के सूक्ष्म धब्बे को दूर करना आवश्यक था। एक बार गुरु हरगोबिन्द साहिब ने आपको घोड़े खरीदकर लाने के लिये काबुल भेज दिया। आपको अपनी पसंद के घोड़े अमृतसर भेजने थे और गुरु साहिब की ओर से इस खरीद की पुष्टि का संदेश पहुँचने पर घोड़ों के मालिक को उनकी क्रीमत अदा करनी थी।

भाई साहिब ने घोड़े अमृतसर भेज दिये और घोड़ों के संतोषजनक होने की सूचना भी गुरु साहिब की ओर से आपको प्राप्त हो गई। जब भाई साहिब ने पठानों को घोड़ों की रकम देने के लिये तंबू में प्रवेश करके थैलियाँ खोलीं तो उनमें सिक्कों के स्थान पर ठीकरियाँ पड़ी हुई मिलीं। इस प्रकार धन को मिट्टी में बदला हुआ देखकर आपके होश उड़ गये। आपने सोचा इस घटना के लिये मैं गुरु साहिब को क्या जवाब दूँगा।

दूसरी ओर, घोड़ों के मालिक पठान बड़े तेज़ स्वभाव के व्यापारी होते थे। अब जबकि उनका माल खरीदकर अमृतसर भी पहुँचाया जा चुका था, फिर वे अपनी रकम में देरी को कभी सहन नहीं कर सकते थे और वे गुस्से में आकर कुछ भी कर सकते थे। आप पठानों को मुँह दिखाने का साहस न कर सके और तंबू की पिछली ओर से पल्ला हटाकर भाग गये। निर्दोष होते हुए भी आपको गुरु की शरण में जाने की न सूझी, उनके दरबार में हाज़िर होने का साहस न हुआ। वे ऐसे भागे कि सैकड़ों कोस दूर काशी जाकर दम लिया।

जब भाई साहिब काफ़ी देर तक तंबू से बाहर न निकले, तो आपके साथी शिष्य अंदर गये और देखा कि अमृतसर से लायी गई थैलियों के मुँह खुले हुए थे, दौलत उस सूने तंबू में बिना सँभाल के बिखरी पड़ी थी और भाई गुरदास का कहीं नामो निशान तक नहीं था। उन्होंने घोड़ों की क्रीमत उनके मालिकों को दे दी और वापस जाकर गुरु साहिब को भाई साहिब के बिना बताये लोप हो जाने का समाचार सुनाया। गुरु साहिब पहले ही सब कुछ जानते थे। वे मुस्कराकर चुप रहे।

हीरे को किसी कमरे में रख दें या किसी मैदान में, वह तो चमकता ही रहेगा। भाई गुरदास निष्ठावान शिष्य थे, आपको प्रभु की याद और गुरु के गुणगान के अलावा और क्या करना था? धीरे-धीरे आपकी गुरुमुखता की कीर्ति काशी की गलियों और मुहल्लों में फैलने लगी तथा उससे प्रभावित होकर जिज्ञासु आपके पास आने लगे, यहाँ तक कि काशी का राजा भी गुरु साहिबान का श्रद्धालु बन गया।

भाई गुरदास के हृदय पर अहंकार की पतली छाया कोई गहरी तो थी नहीं। गुरु की दया-मेहर से यह तुरंत छिन्न-भिन्न हो गई। कहा जाता है कि विरह से व्याकुल हुए भाई साहिब ने गुरु साहिब को खत लिखा और उसके पहुँचते ही गुरु साहिब ने भाई जेठा को आपको वापस लाने के लिये भेज दिया।

भाई साहिब उन दिनों जप जी साहिब की व्याख्या किया करते थे और आपके श्रोताओं में काशी का राजा भी शामिल होता था। भाई जेठा

ने आपके नाम लिखा गुरु साहिब का हुक्मनामा भरी सभा में राजा के हाथ में सौंपा। उसमें ताकीद की गई थी, “जो हमारा चोर आपके यहाँ छिपा हुआ है, उसे मुश्कें बाँधकर वापस भेजा जाये।” यह वह दिन था जिस दिन जप जी साहिब की अंतिम पौड़ी की व्याख्या की गई थी।

हुक्मनामा बोलकर पढ़ा गया। उसे गुरु का आदेश जानकर भाई गुरदास अपने आसन से उठकर खड़े हो गये और नम्रतापूर्वक विनती की, “मेरी मुश्कें बाँधी जायें, क्योंकि सतगुरु का बुलाया गया चोर कोई और नहीं, मैं ही हूँ।” भाई गुरदास और चोर! इसका यक़ीन किसे आये? पर आप गुरु के आदेश का पूरी तरह पालन किये जाने पर अड़े रहे, और बाँधी मुश्कों सहित गुरु की हुजूरी में उपस्थित हुए। काशी में आपके वचन और उपदेश सुनकर अनेक प्राणी गुरु की संगत में शामिल हो गये थे। उनमें से करीब 700 ने काफ़ी समझाने और मना करने के बावजूद भी अमृतसर तक आपका साथ दिया।

सदा बख़्शनेवाले सतगुरु ने फिर रास्ते पर आये भाई गुरदास की मुश्कें खोलीं और गद्गद् होकर आपको हृदय से लगा लिया। भाई साहिब ने गुरु के स्वाँग वाली पौड़ी के लिये क्षमा याचना की और सत्य का ज्ञान हो जाने की पुष्टि के तौर पर तीन पौड़ियों का उच्चारण किया।

पहली पौड़ी में आपने कहा कि जब भूकंप आता है तो धरती पर निर्मित बड़े-बड़े क़िले तक काँप उठते हैं, जब कहीं आँधी-तूफ़ान आता है तो वह हर छोटे-बड़े वृक्ष को जड़ से हिला देता है, जंगल में आग लगने पर कोई भी पेड़-पौधा राख होने से नहीं बचता, दरिया में वेग से बहनेवाली बाढ़ किसी भी व्यक्ति के रोकने से नहीं रुकती, इसी प्रकार यदि सतगुरु स्वाँग बरतें तो शायद ही कोई शिष्य उसमें पूरा उतर पाये:

धरती उपरि कोटगढ़ भुइचाल कंमंदे।

झखड़ि आए तरुवरा सरबत हलंदे।

डवि लगै उजाड़ि विचि सभ घाह जलंदे।

हड़ आए किनि थंमीअनि दरीआउ वहंदे।

अंबरि पाटे थिगली* कूड़िआर करंदे।

सांगै अंदरि साबते से विरले बंदे॥⁴

पर प्रतीत होता है कि इतना कह लेने पर भी आप संतुष्ट नहीं हुए और गुरु की रज़ा की प्रबलता के विरुद्ध अपनी विवशता का विश्लेषण करने के उद्देश्य से आपने कहा:

जे माउ पुतै विसु दे तिस ते किसु पिआरा।

जे घरु भनै पाहरू कउणु रखणहारा।

बेड़ी डोबै पातणी किउ पारि उतारा।

आगू लै उझड़ि पवे किसु करै पुकारा।

जेकरि खेतै खाइ वाड़ि को लहै न सारा।

जे गुर भरमाए सांगु करि किआ सिखु विचारा॥⁵

अर्थात् अगर माँ ही बेटे को ज़हर दे तो उसको कौन बचा सकता है? अगर पहरेदार ही घर में चोरी करता है तो फिर रक्षा कौन कर सकता है? अगर मल्लाह ही नाव को डुबो दे तो कौन बचा सकता है? अगर रास्ता बतानेवाला ही जान-बूझकर उलटे रास्ते पर चलने लगे तो पीछे चलनेवाले किसके आगे फ़रियाद करें? अगर बाढ़ ही खेत को खाना शुरू कर दे तो खेत की रखवाली कौन करेगा? इसी प्रकार अगर गुरु स्वाँग करे या शिष्य को भ्रमित करे तो बेचारे शिष्य की क्या ताक़त है कि वह स्थिर रह सके।

मतलब तो यह है कि जब भूचाल आता है तो बड़े-बड़े पहाड़ हिल जाते हैं, वृक्ष हिल जाते हैं, मकान गिर जाते हैं। सो, अगर गुरु स्वाँग करे तो वह आप ही शिष्य को स्थिर रख सकता है और कोई नहीं।

इससे आगे की पौड़ी 23 में कुछ अन्य उदाहरणों द्वारा अपना भाव अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि जिस स्वाँग में अडोल रहनेवाले

* कपड़े का टुकड़ा।

विरले शिष्य का वर्णन पहले आ चुकी पौड़ी में किया गया है, वह केवल वही हो सकता है जिस पर स्वयं गुरु ही कृपा करे (सांगै अंदरि साबता जिसु गुरु सहाए⁶)। उसकी अपनी बुद्धि कारगर नहीं होती।

गुरु साहिब इस नम्रता पर अति प्रसन्न हुए और फ़रमाया, भाई गुरदास, आपका सिदक (भरोसा) धन्य है (धन तोहि गुर सिदक कमायो⁷)। आप मुझे बड़े ही प्यारे हैं (तू मम पयारो अति अनुरागी⁸)।

गुरु अर्जुन साहिब के शरीर छोड़ते समय गुरु हरगोबिन्द साहिब की उम्र बहुत छोटी थी। वे केवल ग्यारह वर्ष के थे, परंतु वे अपने गुरुपिता की तरह ही ऊँची रूहानी हस्ती थे। वे अपनी संगत की सँभाल करने में पूरी तरह समर्थ थे। उन्हें किसी साधारण इनसान के संरक्षण या देखभाल की भला क्या आवश्यकता थी? फिर भी लोकाचार या बाहरी आड़ कायम रखने के लिये, पाँचवें पातशाह, गुरु अर्जुन साहिब शहादत के लिये लाहौर प्रस्थान करते समय उनका हाथ भाई गुरदास और बाबा बुड़्ढा को थमा गये और फ़रमाया, “ये अभी बालक हैं, इनका ध्यान रखना।” भाई गुरदास अपनी अंतिम साँस तक गुरु हरगोबिन्द साहिब की सेवा में रहकर गुरु साहिब के सलाहकार और सेवादार के रूप में कर्तव्य निभाते और गुरुमत का प्रचार करते रहे। आप लगभग 85 वर्ष की आयु में परलोक सिधारे। गुरु हरगोबिन्द साहिब ने आपकी इच्छा का सम्मान करते हुए अपने करकमलों से आपकी चिता को अग्नि भेंट की।

कवि रूप

भाई गुरदास ने जो विषय लिये, वे अपने आप में इतने महत्त्वपूर्ण थे कि उनके वचनों का सम्मान होना स्वाभाविक ही था। आपने अपनी बात कही भी ऐसे सुंदर ढंग से है कि वह एक यादगार बन गई।

पंक्ति-पंक्ति में पिरोये हुए अति सुंदर अलंकार आपकी रचना को एक विलक्षण रस प्रदान करते हैं और जिस एक गुण में शायद कोई भी दूसरा कवि उनकी समानता नहीं कर सकता, वह है प्रतीकों और उपमाओं का कलात्मक प्रयोग।

विचाराधीन नुक़ते पर आप आधे दर्जन या उससे भी अधिक तर्कसंगत और प्रभावशाली दृष्टांतों की ऐसी धारा बहाते हैं कि शंकारूपी अंधकार के लिये कहीं तिल भर भी स्थान नहीं रहता और आपकी पेश की हुई दलीलें सहज ही दिल में उतर जाती हैं। इस प्रकार आपकी कृति आत्मिक उद्धार के उद्देश्य से रची गई एक गुरुमुख की वाणी होने के अतिरिक्त एक अति उच्च स्तर की कविता होने का सम्मान पाने की अधिकारिणी बन जाती है।

आदिपुरुष

२

परिचय

प्रभु परमेश्वर के अलावा जो कुछ है, सब उसका पैदा किया हुआ है और प्रभु को बनाने का दावा करनेवाला कोई नहीं। फिर यह कौन कहे कि वह इस समय से है, उस समय से पहले नहीं था? इसलिये उसे ठीक ही आदि पुरुष तथा अपने आप का कर्ता कहा जाता है।

वह सदा से अपने विलक्षण निराकार रूप में मौजूद है। न वह बूढ़ा या पुराना होता है, न कमज़ोर पड़ता है और न ही वह किसी बीमारी, दुःख या दोष का शिकार होता है। जो अलख-अगम है, उसकी हस्ती कौन मिटा सकता है? उसके अंत या विनाश की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।*

उसका आकार कितना है, यह भी वही जाने। उसकी रची सृष्टि की सीमाएँ भी आज तक किसी लेखे या हिसाब में नहीं लाई जा सकीं। जब किसी नये, पहले से अच्छे और सामर्थ्यवान उपकरण या यंत्र का आविष्कार होता है, तो पता लगता है कि जितनी सृष्टि का अब तक ज्ञान था, उससे आगे और न जाने कितनी और भी हैं। वह अपनी रचना के कण-कण में समाया हुआ है, पूरन पूर रहिओ सरब मह...॥² और इसके

* आद सच जुगाद सच॥ है भी सच नानक होसी भी सच॥¹

बावजूद उसकी संपूर्णता में कमी नहीं आती। इस प्रकार वह विशालता की दृष्टि से भी बेअंत है। इसी लिये यही संभव है कि जब वह किसी मदारी की तरह अपने खेल को समेटता है तो उसका सृष्टिरूपी असीम विस्तार कहीं और नहीं जाता; उसके अपने ही अस्तित्व में समा जाता है।

उसका विस्तार

जो कुछ हमारी आँखें अपने आसपास देखती हैं, यह सब उसी का विस्तार है, जैसे कि धरती में से पैदा हुई वनस्पति। सृष्टि की इस पैदावार में पेड़-पौधे, बेल-बूटे, घास आदि शामिल हैं, अपनी-अपनी जगह सबके सब अनगिनत। उस एक अकेले के लिये इतना कुछ बना लेना कैसे संभव हुआ, यह शायद हर एक की समझ में न आये। ऐसी शंका करनेवालों के लिये भाई गुरदास वृक्ष का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं:

बिरखु होवै बीउ बीजीऐ करदा पसारा।

जड़ अंदरि पेड़ बाहरा बहु डाल बिसथारा।

पत फुल फल फली दा रस रंग सवारा।

वासु निवासु उलासु करि होइ वड परवारा।

फल विचि बीउ संजीउ होइ फल फलो हजारा।³

एक छोटा-सा बीज ज़मीन में अंकुरित होता है, जड़ के रूप में वह नीचे, मोटी-पतली जड़ें बनकर फैलता जाता है और ज़मीन से ऊपर शाखाओं के रूप में बढ़ता जाता है। पतली शाखाओं पर पत्ते उगते हैं और फूल लगते हैं तथा फूलों के फल बन जाते हैं। इन सबमें रस भरता है और रंग प्रकट होता है। फूलों और फलों में सुगंध का जन्म होता है जो चारों ओर महक बिखेरती है। फलों और फलियों में बीज पकते हैं और वे फिर उसी वृक्ष जैसे अनेक वृक्षों की उपज का कारण बन जाते हैं। यही चमत्कार परमेश्वर ने बहुत बड़े पैमाने पर करके दिखाया है।

उसका हुक्म और भय

हालाँकि पवन-पानी आदि, पाँचों तत्त्व एक दूसरे के शत्रु हैं तो भी वे पूरे आपसी मेल-मिलाप से अपने कार्य पूरे करते रहते हैं। प्रकृति का सामान्य नियम है कि मिट्टी पानी में घुल जाती है, पर हम देखते हैं कि धरती अज्ञात काल से बड़े-बड़े समुद्रों के बीच में टिकी हुई है तो भी उसके अस्तित्व को कभी कोई खतरा पैदा नहीं हुआ। अग्नि का लकड़ी से वैर है, पर प्रत्येक वृक्ष या पौधे के अंदर अग्नि विद्यमान होने के बावजूद भी वे निरंतर फलते-फूलते रहते हैं। कोई वस्तु किसी आधार या सहारे के बिना किसी हालत में अपने ठिकाने पर क्रायम नहीं रहती। परंतु आकाश में चक्कर लगानेवाले लाखों ग्रह, उपग्रह अपने निर्धारित स्थानों से नहीं भटकते, सही दिशा छोड़कर ग़लत दिशा की ओर नहीं जाते। यह सब इसलिये है कि कर्तापुरुष प्रभु की यही रज़ा है, किसी की क्या मजाल कि उसके हुक्म का उल्लंघन कर सके:

भै विचि धरति अगासु है निराधार भै भार धराइआ।

पउणु पाणी बैसंतरो भै विचि रखै मेलि मिलाइआ।

पाणी अंदरि धरति धरि विणु थंम्हा आगासु रहाइआ।

काठै अंदरि अग्नि धरि करि परफुलित सुफलु फलाइआ।⁴

परवरदिगार

कर्तापुरुष विभिन्न प्रकार के अनेक जीव-जंतु पैदा करता है और पैदा करके उन्हें भुला नहीं देता, उनकी परवरिश भी करता है। वह एक-एक प्राणी को रिज़क (जीविका) पहुँचाता है और चाहे उनमें से कोई ज़मीन के अंदर छिपकर बैठा हो या पत्थरों के नीचे या समुद्र की गहराई में, वे जहाँ भी हों, उनके हाथ फैलाये या माँगे बिना ही उनका भोजन उनके पास पहुँच जाता है:

परवदगारु सलाहीऐ सिरठि उपाई रंग बिरंगी।

राजिकु रिजकु संबाहिदा सभना दाति करे अणमंगी।⁵

अलख-अगम

अनेक ब्रह्मा अनेकों बार वेदों का अध्ययन करते-करते थक गये, पर उनको सतपुरुष का भेद न मिला। अनेक अवतारों ने भाँति-भाँति के योग और ध्यान के अभ्यास द्वारा उसे पाने का प्रयत्न किया तो भी उसका भेद प्राप्त न कर सके। शेषनाग ने अपनी ओर से उसका लाखों नये-नये नामों से सिमरन किया और अंत तक उसका ज्ञान न पा सका, जो कुछ जानने के योग्य था उससे निपट अनजान रहा। अन्य असंख्य लोगों ने अपनी बहुत लंबी-लंबी आयु अलग-अलग दर्शनों या मार्गों के अनुसार साधना करते हुए गँवा दी, पर शब्द का मिलाप उन्हें नसीब न हुआ। दुर्भाग्य यह है कि इन सबको प्रभु से मिली दातें इतनी मनमोहक लगीं कि वे उनके रसों और स्वादों में ही डूबे रहे और दातों को बख्शनेवाला परमेश्वर उन्हें बिलकुल याद न रहा:

लख लख ब्रह्मे वेद पढ़ि इकस अखर भेदु न जाता।
जोग धिआन महेस लख रूप न रेख न भेखु पछाता।
लख अवतार अकार करि तिलु वीचारु न बिसन पछाता।
लख लख नउतन नाउ लै लख लख सेख विसेख न ताता।
चिरु जीवणु बहु हंढणे दरसन पंथ न सबदु सिजाता।
दाति लभाइ विसारनि दाता॥*⁷

मनुष्य चाहे अशरफुल-मखलूकात, सृष्टि का सिरमौर, जीवों का शहंशाह अथवा जो चाहे बना रहे, पर सब कुछ होने के बावजूद यथार्थ में वह है तो एक तुच्छ क्षणभंगुर जीव ही। दूसरी ओर यदि उसका सिरजनहार, कर्तापुरुष, अपनी इस रचना की सीमित बुद्धि की पकड़ में आ जाये, तो उसे पारब्रह्म परमेश्वर कौन कहे? गुजरी शताब्दियों में कितने ही महान दार्शनिक और महान वैज्ञानिक हो चुके हैं, उन सभी के मापदंड के

* दात पिआरी विसरिआ दातारा॥⁶

साधन प्रयुक्त होते-होते टूट गये तो भी उनको उसकी महानता का, उसकी रूपरेखा का थोड़ा-सा भी भेद नहीं मिला। अपनी पूरी शक्ति लगाने के बाद हर एक जिज्ञासु उसे अगम-अगोचर ही कहता रहा। भाई गुरदास का विचार आपके पूर्ववर्ती महापुरुषों से अलग नहीं:

ब्रह्मादिक वेदा सणै नेति नेति करि भेदु न पाइआ।
महादेव अवधूत होइ नमो नमो करि धिआनि न आइआ।
दस अवतार अकारु करि एककारु न अलखु लखाइआ।
रिधि सिधि निधि नाथ नउ आदि पुरखु आदेसु कराइआ।
सहस नाव लै सहस मुख सिमरणि संख न नाउ धिआइआ।
लोमस तपु करि साधना हउमै साध न साधु सदाइआ।
चिर जीवणु बहु हंढणा गुरमुखि सुखु फलु पलु न चखाइआ।
कुदरति अंदरि भरमि भुलाइआ॥⁸

भाँति-भाँति के अवतारों की असफलता का वर्णन ऊपर आ चुका है। नौ नाथों ने ऋद्धियों और सिद्धियों आदि करामाती शक्तियों की सहायता से खोज की, तो भी उसका भेद पाने में सफल न हुए। शेषनाग ने हज़ार मुख से उसके हज़ारों नाम प्रतिदिन जपे और फिर भी वे समाप्त नहीं हुए। लोमश ऋषि* जो लंबी उम्र के हिसाब से अमर ही थे, परमात्मा के मार्ग पर चले किंतु अपने अहं को वश में न कर सकने के कारण, त्रिकुटी से पार साधुपद तक भी न पहुँच पाये। चिरजीवी मार्कंडेय को भी गुरुमुखता का सुखफल चखने को न मिला। इन सबमें से किसी को भी प्रभु का साक्षात्कार न हुआ, सबके सब उसकी कुदरत के मोहजाल में ही उलझे रहे।

यही भाव इसी वार की ही सत्रहवीं पौड़ी में इस प्रकार प्रकट किया गया है:

* एक पौराणिक ऋषि जिसकी उम्र ब्रह्मा की उम्र से भी लाखों गुना लंबी मानी जाती है।

अगमहु अगमु अगंमु है अगमु अगमु अति अगमु सुणाए।
 अलखहु अलखु अलखु है अलखु अलखु लख अलखु धिआए।
 अपरंपरु अपरंपरहुं अपरंपरु अपरंपरु भाए।
 आगोचर आगोचरहुं आगोचरु आगोचरि जाए।⁹

जो अगम से अगम, अलख से अलख, अपरंपर से अपरंपर और अगोचर से भी अगोचर है, हम निराश्रय और निर्बल जीव उसकी क्या थाह पा सकते हैं? हाथी का नाप लेना किसी भी चींटी की पहुँच से बाहर होता है और प्रभु की थाह पाना तो और भी टेढ़ा काम है:

रोम रोम विचि रखिओनु करि ब्रह्मंड करोड़ि समाइआ।¹⁰

उसके एक-एक रोम में रचकर समेट रखे करोड़ों ब्रह्मांडों को कौन-सा कंप्यूटर गिनेगा?

चित्र में चितेरा

अगर अकालपुरुष को पाना और उसमें समा जाना ही मनुष्य-जन्म का एकमात्र उद्देश्य है और वह सदा 'अगमों अगम', 'अलखों अलख', 'अपरंपारों अपरंपर' और 'अगोचरों अगोचर' है, तो फिर इस उद्देश्य की कभी पूर्ति होगी ही नहीं। खुशकिस्मती से स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। वह इसलिये कि जहाँ यह हकीकत है कि परमात्मा में मिलकर अपना आपा गँवाये बिना जीव का बार-बार जन्म लेना, मरना और दुःख भोगना समाप्त नहीं होता और परमात्मा सचमुच अगम, अलख, अपरंपर और अगोचर है, वहाँ यह भी शत-प्रतिशत सत्य है कि जैसे उसकी कुदरत क्रादिर (रचना करनेवाले) में समाई हुई है, वैसे वह अपने आप भी अपनी कुदरत में रमा हुआ है:

ब्रह्म मयी है माया माया मयी है ब्रह्म,
 ब्रह्म बिबेक टेक एकै पहिचानीऐ।¹¹

तथा:

रचना चरित्र चित्र बिसम बचित्र पन,
 चित्र में चितेरा को बसेरा सति सति है॥¹²

कहा जाता है कि समुद्र के पानी के नीचे रेत में बेअंत सोना बिखरा पड़ा है पर हम उस सोने की मुट्ठियाँ भरकर नहीं ला सकते। उसी प्रकार हमारे चारों ओर फैली हवा में ऑक्सीजन का पारावार नहीं, पर कभी दम घुटने लगे तो उस ऑक्सीजन से छाती भरकर साँस नहीं लिया जा सकता। परमेश्वर सोने और ऑक्सीजन की तरह व्यापक होने के बावजूद हमारी पहुँच से परे नहीं, क्योंकि वह हमारे अंदर हमारे हृदय में है।

घटि घटि पूरन ब्रह्मु है चंदु जल विचि भालै।¹³

वह एक अकेला भी है और हर एक के अंतर में मौजूद भी, उसी तरह जैसे पानी से भरे हज़ार घड़ों में झाँका जाये तो चंद्रमा हर एक में नज़र आयेगा। उसकी खोज के लिये पर्वतों, जंगलों, तीर्थों, धामों में भटकने की ज़रूरत नहीं, वह अपनी काया के अंदर ही मिल जाता है:

अंतर निरंतर अंतर पट घटि गए,
 अंतरजामी अंतरागति उनमानीऐ॥¹⁴

निकट संबंधी

प्रभु का अपना कोई वर्ण नहीं, चिह्न-चक्र नहीं, इसलिये जाति, गोत्र या शक्ल-सूरत की पृथक्ता के कारण वह किसी के प्रति भेदभाव नहीं रखता, उसके लिये सब समान हैं। माता-पिता, बहन-भाई आदि किसी के भी मुकाबले में वह हमारा सबसे अधिक प्रिय नज़दीकी है, क्योंकि वे चाहे हमारे साथ एक ही घर में रहते हों, पर एक वही है जो हमारे अंदर बसता है:

वरनां चिहनां बाहरां सभना अंदरि है सरबंगी*।¹⁵

* नख से शिखा तक व्यापक होकर फैल रहा है।

इसलिये भाई साहिब हिदायत करते हैं:

चितै अंदरि चेतु चितेरे॥*¹⁶

मिलाप: उसकी दया से

यद्यपि प्रभु आत्मा के बिल्कुल निकट बसता है, पर वह प्रभु को उसकी दया से ही प्राप्त कर सकती है:

जोई प्रभ भावै ताहि सोवत जगावै जाइ,
जागत बिहावै जाहि ताहि न बुलावई॥
जोई प्रभ भावै ताहि माननि मनावै धाइ,[†]
सेवक स्वरूप सेवा करत न भावई॥
जोई प्रभ भावै ताहि रीझ कै रिझावै,
आपा काछि काछि[‡] आवै ताहि पग न लगावई॥
जोई प्रभ भावै ताहि सबै बनि आवै,
ता की महिमा अपार न कहत बनि आवई॥¹⁷

जो जीवात्मा संसार की ओर से जाग्रत तथा प्रभु के प्रति सो रही है, उसे वह अपने पास नहीं बुलाता। परंतु जो जीवात्मा प्रभु के प्रति जाग्रत है अर्थात् प्रभु के खयाल में डूबी रहती है, यदि वह प्रभु से रूठ भी जाती है यानी किसी क्षण उसे भूल जाती है तो भी वह उसे प्रेमपूर्वक मनाने (क्षमा करने) में संकोच नहीं करता। इसके विपरीत, जो जीवात्मा प्रभु की बाहरमुखी सेवा अर्थात् पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत आदि में निरंतर लगी रहती है, उसके लिये परमात्मा परमधाम का द्वार नहीं खोलता।

जो गुरुमुख अपनी भक्ति द्वारा परमात्मा को प्रसन्न कर लेती है, वह उस प्रियतम की प्रेमपूर्ण कृपा की पात्र बन जाती है। पर जो जीवात्मा

* हृदय के अंदर ही उस चित्रकार (रचना करनेवाले) का अनुभव करो।

† दौड़कर।

‡ सज-धजकर।

केवल सज-धजकर अर्थात् बाहरी भेष आदि धारण करके उसे रिझाना चाहती है, उसे वह अपने चरणों से दूर रखता है।

जो भाग्यशाली आत्मा प्रभु के प्रेम में रंगी रहती है, जिसका हर कार्य अपने प्रियतम की प्रसन्नता के लिये होता है, उसे हर वेशभूषा जँचती है—सादगी, दीनता, गरीबी, कुछ भी—सो रानी जो खसमै* भाणी। उसकी शोभा का वर्णन कर पाना संभव नहीं।

ऐसी कामिनी की प्रेम कहानी उसके कंत को भा जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाती, आगे भी बहुत कुछ उसका मनचाहा होता है:

जोई प्रिय भावै तांहि देखि औ दिखावै आप,
दृसटि दरस मिल सोभा दै सुहावई।
जोई प्रिय भावै मुख बचन सुनावै तांहि,
सबद सुरति गुरु ज्ञान उपजावई॥
जोई प्रिय भावै दस दिस प्रगटावै तांहि,
सोई बहु नाइक की नाइका कहावई।
जोई प्रिय भावै सिंहजासन मिलावै तांहि,
प्रेम रस बस करि अपिउ पीआवई॥¹⁸

जब प्रभुरूपी प्रियतम की मौज होती है और जब वह किसी जीवात्मा को अपने से मिलाना चाहता है, तब वह उस पर (गुरु के रूप में) अपनी कृपादृष्टि डालता है। गुरु उस प्रेमी आत्मा को अपना दीदार बख्शाता है, जिसे पाकर वह निहाल हो जाती है, उसकी शोभा को चार चाँद लग जाते हैं।

वह इस जिज्ञासु जीवात्मा को गुरु के द्वारा दीक्षित करता है और वह उसके उपदेश के अनुसार शब्द में सुरत जोड़कर परदा खोल लेती है।

प्रभु की दया और सुरत-शब्द के अभ्यास द्वारा मिली दिव्य दृष्टि के फलस्वरूप उसे दसों दिशाओं, तीनों लोकों और सभी खंडों-ब्रह्मांडों में

* प्रभु को, स्वामी को।

पहुँच प्राप्त हो जाती है और वह इस सारे जगत के स्वामी (प्रभु-प्रियतम) की सुपत्नी कहलाने की अधिकारिणी बन जाती है।

प्रभु उसके अंतःकरण की सेज पर पधारकर उसे गले लगा लेता है और सदा उसके संग रहते हुए उसे अगम प्रेमरस के अमृत से तृप्त कर देता है।

गुरु की आवश्यकता

भाई साहिब को पता था कि केवल यह जान लेने से कि परमेश्वर हर ओर, कण-कण में और हमारे अंदर भी विद्यमान है, फिर भी हमारा उससे साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये वे स्पष्ट करते हैं कि यह मनोरथ सतगुरु की सहायता द्वारा ही पूरा हो सकता है। प्रभु की दया गुरु द्वारा ही प्राप्त होती है:

आपे आपि वरतदा गुरुमुखि निसतारा॥¹⁹

यद्यपि यह पता होता है कि कुएँ में पानी है, फिर भी वह होठों तक तभी पहुँचता है जब रस्सी और डोल के साधन प्राप्त हों।

जन्म सफल

जो परवरदिगार हमारा जन्म से लेकर मृत्यु तक साथ देता है और हमारे शरीर छोड़ते समय भी जो हमारी बाँह पकड़े रखेगा, उसमें रच या समा जाने पर ही हमारा संसार में आना सफल हो सकता है:

जनम जीवन अंत काल के संगीति* राचहु,
सफल अउसर जग तब ही तउ आइआ को॥²⁰

* साथ देनेवाला।

2

गुरुदेव



गुरु-परमेश्वर

गुरुदेव का स्वरूप कैसा होता है? भाई गुरदास बताते हैं कि गुरुदेव अनेक गुणों से युक्त परमेश्वर का अपना प्रत्यक्ष रूप होता है:

निरंकार निराधार निराहार निर्बिकार,
अजोनी अकाल अपरम्पर अभेव* है।
निर्मोह निर्वैर निर्लेप निर्दोष,
निर्भय निरंजन, अतः पर अतेव† है,
अबिगति अगम अगोचर अगाध बोध,
अच्युत अलख अति अछल अछेव है।
बिसमै बिसम असचर्जे असचर्जमय,
अदभुत परमदभुत गुरुदेव है॥¹

जिस प्रकार के व्यक्ति से हमें काम पड़े, उससे वैसा ही बर्ताव करना पड़ता है और मान-मर्यादा की दृष्टि से भी ज़रूरी है कि उस व्यक्ति को भलीभाँति जान लिया जाये। शहंशाहों से राजदूतों जैसा व्यवहार नहीं किया

* भेद से रहित।

† बहुत महान।

जाता और न ही साहूकार और फ़कीर के प्रति एक ही प्रकार का बर्ताव किया जा सकता है। जिस सतगुरु के बारे में हम चर्चा कर रहे हैं उसकी क्या हस्ती है, यह भाई गुरदास से अच्छा कौन बतायेगा:

पारब्रह्म पुरन ब्रह्म आदि पुरखु है सतिगुरु सोई।²

जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही सत्ता के दो अलग-अलग नाम हैं, उसी प्रकार आदि पुरुष और सतगुरु में भी कोई फ़र्क़ नहीं। जब शिष्य को अनुभव हो जाता है कि गुरु और परमेश्वर एक ही हैं, दो नहीं तो वह द्वैतभाव से मुक्त हो जाता है।

गुरु परमेसर एक जाणि दूजा भाउ मिटाइ उपाधे।³

तथा:

गुरु परमेसर इकु जानि गुरुमुखि दूजा भाउ मिटाइआ।⁴

सतगुरु ही पूर्ण ब्रह्म का सच्चा रूप है, इसी लिये सतगुरु का ध्यान करना पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करना है। सच्चे नाम का गुरुमंत्र देनेवाला सतगुरु सच्चा पारब्रह्म ही होता है:

सत्यरूप सत्यगुरु पूर्ण ब्रह्म ध्यान,
सत्यनाम सत्यगुरु ते पार ब्रह्म है।⁵

शिष्य सतगुरु को हाज़िर-नाज़िर, प्रत्यक्ष देह-स्वरूप पूर्ण ब्रह्म स्वीकार करके ही सुरत द्वारा शब्द में लिव जोड़ता है:

पूर्ण ब्रह्म सतगुरु सावधान जान,
गुरु सिख सबद सुरति लिव लावही॥⁶

जो परमेश्वर मूल या आदि में था और जिससे सारी सृष्टि का प्रारंभ हुआ, वही सच्चा, अचल, अटल परमेश्वर सतगुरु के रूप में संसार में आता है। परंतु सतगुरु के रूप में प्रकट उसकी पहचान और उसमें प्रतीति

शब्द की कमाई द्वारा ही की जा सकती है, वैसे नहीं। सतगुरु की शिक्षा के अनुसार सुरत को शब्द से जोड़कर ही उसमें समाया और उसके साथ एकरूप हुआ जा सकता है:

आदि पुरख आदेस, आदि वखाणिआ।
सो सतिगुरु सचा वेसु, सबदि सिजाणिआ।
सबदि सुरति उपदेसु, सचि समाणिआ।⁷

मालिक के प्यारे (सतगुरु) उसी प्रकार जन्म लेते हैं, जिस प्रकार अन्य बालक। उनका बाहरमुखी स्वरूप उसी प्रकार की परवरिश द्वारा विकसित होता, समय की धारा के साथ ढलता, कमज़ोर होता और अंत में निष्प्राण होकर मिट्टी में मिल जाता है, जैसे अन्य प्राणियों का पंचभौतिक शरीर। पर यह सब खेल केवल सांसारिक दृष्टि से होता है, अन्यथा यह एक भ्रम है। वास्तव में उनका स्वरूप तो परमात्मा से अभेद है:

पुरखु पुरातनु सतिगुरु ओति पोति इकु सूत्र बणाइआ।⁸

सतगुरु तो सनातन पुरुष होते हैं, उनका असली रूप शब्द होता है, न की स्थूल शरीर। और उनका यह शब्द-स्वरूप, कपड़े के ताने-बाने की तरह परमेश्वर से घुला-मिला ही होता है।

सतगुरु के बारे में जानकारी देते हुए भाई साहिब लिखते हैं:

दरस ब्रह्म ध्यान, सबद ब्रह्म ज्ञान,
संगत ब्रह्म थान प्रेम पहिचानियै॥⁹

अगर अंतर में उसके दर्शन कर लिये तो समझ लो प्रभु का ध्यान कर लिया; उसके शब्द में लीन हो गये हो तो समझो कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई; जब अंदर उसकी संगति में बैठना मिला, मानों सचखंड में जा बिराजे। लेकिन यह हकीकत प्रीति करनेवाले व्यक्तियों पर ही प्रकट होती है।

जड़, तना, शाखाएँ, टहनियाँ, पत्ते आदि मिलकर आम का वृक्ष कितना बड़ा होता है, पर खाने के काम उसका रसीला और सुगंधित फल ही आता है। इसी प्रकार परमेश्वर यद्यपि सर्वसमर्थ है, वह खंडों और ब्रह्मांडों में समाया हुआ है, फिर भी उसके इस व्यापक और शक्तिशाली अस्तित्व से हमें आत्मिक आनंद जैसे किसी लाभ की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्राप्ति का माध्यम सतगुरु ही है। जो कुछ परमेश्वर से लेने योग्य है, वह सतगुरु की दया से, सतगुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। इसलिये भाई साहिब सतगुरु को पारब्रह्म वृक्ष का 'सुख-फल' कहते हैं:

बिरखहु साउ न आवई फल विचि साउ सुगंधि संजारी।
 पूरन ब्रह्म जगत्र विचि गुरमुखि साध संगति निरंकारी।
 गुरमुखि सुख फलु अपर अपारी॥¹⁰

प्रभुप्राप्ति का साधन

संसार में जो कुछ हो रहा है, प्रभु का किया हुआ हो रहा है, (करन करावन आपे आप॥¹¹), पर अगम, अगोचर और पूरी तरह सर्वशक्तिमान होने के बावजूद वह इस स्थूल संसार में परदे का प्रयोग करता है। इसलिये जब चौरासी के कोल्हू में पेरी जा रही मानव-जाति के उद्धार की दिशा में कुछ करना हो, तो वह स्वयं सामने न होकर संत-सतगुरुओं का माध्यम अपनाता है:

आपे आपि वरतदा गुरमुखि निरधारा॥¹²

आपे आपि वरतदा गुरमुखि परवाणा॥¹³

सतगुरु: शब्द-स्वरूपी

सतगुरु साधारण मनुष्य नहीं होता, यद्यपि उसने मनुष्य का ही चोला धारण किया होता है, परंतु उसका असली रूप होता है शब्द। जब ध्यान द्वारा ज्ञान की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब निश्चय ही यह समझ में आ जाता

है कि सतगुरु शब्द में समाया हुआ है; शब्द और सतगुरु के बीच उन्हें अलग-अलग कहने के लिये वैसे ही रेखा नहीं खींची जा सकती जैसे ब्रह्म को निर्गुण और सगुण कहकर दो नहीं माना जा सकता:

सतिगुर महि सबद सबद महि सतिगुर है,
 निगुन सगुन गिआन धिआन समझावै जी॥¹⁴

कई तथ्य अपने आप में इतने तर्कसंगत होते हैं कि सुनते ही उन पर विश्वास हो जाता है। परंतु कुछ तथ्यों पर तब विश्वास होता है, जब महात्माओं की रचनाओं में उनकी पुष्टि मिले और कुछ तथ्य ऐसे भी होते हैं जिनको बुद्धि तो मान लेती है। लेकिन जिन पर मन को पूरी प्रतीति नहीं आती, मन शत-प्रतिशत उन्हें स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में कानों द्वारा सुनी बात पर विश्वास आँखों से देखने पर ही होता है। देख लेने के बाद सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं। सतगुरु और परमेश्वर एक ही होता है। प्रत्येक जिज्ञासु के लिये यह मान लेना सरल नहीं, पर जब वह सतगुरु को उसके शब्द (नूरी) स्वरूप में देख लेता है तो फिर अविश्वास के लिये कोई गुंजाइश नहीं रहती। इस वास्तविकता की गवाही देते हुए भाई गुरदास फ़रमाते हैं:

आदि पुरख आदेस, आदि वखाणिआ।

सो सतिगुरु सचा वेसु सबदि सिजाणिआ।¹⁵

फल वृक्ष से पैदा होता है या वृक्ष फल से? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं, क्योंकि फल वृक्ष में ही लगता है और वृक्ष उस बीज से जन्म लेता है जो फल के अंदर छिपा होता है। यही संबंध चंदन और उसकी सुगंधि में या लकड़ी और उसमें छिपी अग्नि में होता है। इसी प्रकार सतगुरु (सगुण ब्रह्म) और शब्द (निर्गुण ब्रह्म) एक दूसरे में समाये रहते हैं। उनमें दिखाई देनेवाला फ़र्क केवल कहने को है, वास्तविक नहीं। इसलिये सतगुरु को शब्द-स्वरूपी या शब्दगुरु कहा जाता है (सबद गुरु सुरत धुन चेला॥¹⁶):

जैसे फल से वृक्ष, वृक्ष से होत फल,
अद्भुत गति कछु कहन न आवै जी।
जैसे बास बावन में, बावन है बास बिषय,
बिसम चरित्र कोऊ मरम न पावै जी।
काष्ट में अग्नि, अग्नि में काष्ट है,
अति आश्चर्य है कौतुक कहावै जी।
सतगुरु में शब्द, शब्द में सतगुरु है,
निर्गुण ज्ञान ध्यान समझावै जी॥¹⁷

सतगुरु सर्वोच्च है

भले ही वेद-शास्त्र, स्मृतियाँ, महाभारत और रामायण जैसे महान माने जानेवाले ग्रंथ पढ़ लिये जायें, ज्योतिष शास्त्र, गायत्री, भागवत आदि के पाठ कर लिये जायें, मंत्रविद्या प्राप्त कर ली जाये, कितने ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव जैसे अवतारों, या फिर नारद, व्यास, शुकदेव, सनक, सनन्दन आदि जैसे ऋषियों, ज्ञानियों, ध्यानियों और भिन्न-भिन्न मतों के मुखिया और दार्शनिकों को भी एक पंक्ति में लाकर खड़ा किया जाये, तो भी वे सब मिलकर पूरे सतगुरु की बराबरी नहीं कर सकते। सतगुरु ऊँचों से ऊँचा अर्थात् सर्वोच्च है और उसके वचन सभी मंत्रों का मूल हैं। शब्दरूपी गुरु की महिमा कहने या बताने की चीज़ नहीं। इस सत्य को स्वीकार करते हुए सतगुरु द्वारा दी गई शिक्षा पर श्रद्धापूर्वक अमल करके आनंदित और कृतार्थ होना चाहिये:

सासत्र सिंप्रिति वेद लख महाभारथ रामाङ्ग मेले।
सारगीता लख भागवत जोतक* वैद चलंती खेले।
चउदह विदिआ साअंगीत† ब्रहमे बिसन महेसुर भेले‡।

* ज्योतिष-शास्त्र।

† राग-वेत्ता, गायत्री-पाठक।

‡ इकट्ठे करें।

सनकादिक लख नारदा सुक बिआस लख सेख नवेले*।
गिआन धिआन सिमरण घणे दरसन वरन गुरु बहु चले।
पूरा सतिगुर गुरां गुरु मंत्र मूल गुर बचन सुहेले।
अकथ कथा गुरु सबदु है नेति नेति नमो नमो केले†।
गुरमुख सुख फलु अंग्रित वेले॥¹⁸

पंचभौतिक शरीर धारण कर लेने से प्रभु की अपार शक्तियों में कोई कमी नहीं आ जाती। सतगुरु के रूप में वह उतना ही सामर्थ्यवान होता है, जितना निर्गुण या निराकार रूप में। गुरु जो चाहे कर सकता है। कुछ भी करना उसके लिये संभव है, पर सतगुरु सिरजनहार की रज़ा में खुश रहने के कारण छोटी-छोटी बातों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करता:

करण कारण समरथ होइ कारण करण न कारण करणा॥¹⁹

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सतगुरु कुदरत का तमाशा देखने में ही व्यस्त रहता है, करता कुछ नहीं। वह पथभ्रष्ट जीवों के कल्याण के लिये संसार में आता है, अपना यह कर्तव्य तो उसे निभाना ही है। वह उन लोगों का सहारा बनता है, जिनका कोई भी सहारा नहीं है और जो उसकी शरण में आ जाते हैं:

पतित उधारण असरण सरणा॥²⁰

गुरु की आवश्यकता

कोई स्त्री चाहे कितने ही मनमोहक शृंगार से अपनी काया को सजा ले, जब तक पति से मिलाप का अवसर न मिले, वह अपनी गोद में अपनी कोख का लाल खिलाने योग्य नहीं होती। किसी वृक्ष को चाहे कितने ही

* लाखों शेषनाग।

† आनंद-रूप।

नियमित रूप से दिन-रात पानी दिया जाता रहे, पर अनुकूल मौसम के आये बिना उसमें फूल-फल नहीं लगते; किसी किसान ने चाहे बार-बार हल चलाकर और सुहागा फेरकर बीज डाला हो, उसकी ज़मीन वर्षा आदि के द्वारा सिंचाई के बिना कोई फ़सल नहीं देती। इसी तरह कोई जिज्ञासु एक के बाद एक चाहे कितने ही वेश धारण करके जंगलों, पहाड़ों, तीर्थों, धामों आदि में घूमता रहे, गुरु के मिले बिना उसके अंतर में ज्ञान की जोत नहीं जलेगी, उसमें अज्ञान का अंधकार ही छाया रहेगा:

कोटि परकार नारि साजै जउ सिंगार चारु,
बिनु भरतार भेटै सुत न खिलाइ है॥
सिंचीऐ सलिल निस बासुर बिरख मूल,
फुल न बसंत बिनु तासु प्रगटाइ है॥
सावन समै किसान खेत जोत बीज बोवै,
बरखा बिहून कत नाज निपजाइ है॥
अनिक प्रकार भेख धारि प्राणी भ्रमै भूमि,
बिनु गुर उरि गिआन दीप न जगाइ है॥²¹

गुरु की आवश्यकता के प्रसंग में भाई गुरुदास बहुत बल देकर कहते हैं कि चम्पा की बेल घनी होकर चाहे कितनी भी दूर तक फैल जाये, पर फूल लगने से पहले उसमें से तनिक भी सुगंध नहीं आती। आम या जामुन जैसा कोई वृक्ष चाहे कितना ऊँचा हो जाये, जब तक उसमें फल न लगें, उससे कोई स्वाद आने की आशा नहीं रखी जा सकती। गुरु से शिक्षा लेकर शब्द-अभ्यास की विधि चाहे खूब अच्छी तरह याद कर ली जाये, लेकिन जब तक सिमरन द्वारा उसकी कमाई न की जाये, तब तक न तो अंतर में जोत जलती है और न ही शब्द प्रकट होता है। इसी तरह परमेश्वर चाहे हर मनुष्य के हृदय में बसता है, पर उसका साक्षात्कार पूरे गुरु की दया के बिना नहीं हो सकता:

जैसे तउ चंपक बेल बिबिधि बिथार चारु,
बासना प्रगट होत फूल ही मै जाइ कै॥
जैसे द्रुम दीरघ स्वरूप देखीऐ प्रसिध,
स्वाद रस होत फल ही मै पुनि आइ कै॥
जैसे गुर गिआन राग नाद हिरदै बसत,
करत प्रकास तास रसना रसाइ कै॥
तैसे घट घट बिखै पूरन ब्रहम रूप,
जानीऐ प्रतछ महं पुरख मनाइ कै॥²²

जिस प्रकार शुरू-शुरू में व्यापार के लिये थोड़ा-बहुत धन व्यय किया जाता है और फिर बिक्री होने पर केवल वह धन ही नहीं लौट आता, बल्कि काफ़ी लाभ भी प्राप्त हो जाता है या जिस प्रकार पहले गाय को भूसा, चारा आदि वस्तुएँ खिलायी जाती हैं जो मनुष्यों के न खाने योग्य और बाद में उससे इतना दूध प्राप्त किया जाता है कि वह केवल पीने के ही काम नहीं आता, बल्कि उससे अनेक स्वादिष्ट पदार्थ भी तैयार किये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो अपना तन, मन और धन गुरु को अर्पण करके उससे नाम की बख़्शिाश प्राप्त कर लेता है, वह अमरपद का अधिकारी हो जाता है:

जैसे दाम लाईअत प्रिथम बनज बिखै,
पाछै लाभ हेत मनि सकुच* न कीजीऐ॥
जैसे गऊ सेवा कै सहेत प्रतिपालीअत,
सकल अखाद† वा को दूध दुहि पीजीऐ॥
तैसे तन मन धन अरप सरनि गुर,
दीखिआ दान लै अमर सद सद जीजीऐ‡॥²³

* संकोच।

† न खाने योग्य।

‡ जन्म-मरण रहित।

बच्चे को पैदा होने के दिन से माता का दूध पीकर अपनी उदरपूर्ति करने का स्वभाव पड़ जाता है और वह थोड़ा बड़ा होकर कहे-सुने जाने पर भी यह आदत त्यागने के लिये तैयार नहीं होता। इसलिये माता क्या करती है, उसे दूध से भी मीठी किसी वस्तु का स्वाद चखने को देती है तभी वह आसानी से माता का दूध छोड़ पाता है। वैद्य को पता होता है कि उसकी दवा कड़वी या बेस्वाद है, रोगी उसे मुँह में डालना पसंद नहीं करेगा। इसलिये वह उसमें शहद या मिसरी जैसी कोई वस्तु मिलाकर खाने-पीने के योग्य बना देता है। इसी प्रकार शिष्य की कामना उचित न भी हो तो सतगुरु उसे पूरी कर देते हैं, नहीं तो अपनी मौज में उसकी ओर से अरुचि पैदा कर देते हैं। इस प्रकार वह कामना मिटा दी जाती है। तब वह सब ओर से हटकर निज पद की प्राप्ति के लिये एकचित्त होकर भजन-सिमरन में लग जाता है:

जैसे मिष्टान्न पान पोष तोष बालकहि,
अस्थन पान बान जननि मिटावई।
मिसरी मिलाए जैसे औषधि खवावै वैद्य,
मीठे कर खात रोगी, रोगहि घटावई॥
जैसे जल सींच सींच धानहि कृसान पाले,
भये परिपक्व कात घर ले आवई।
तैसे गुरु कामना पुजाय, निःकाम कर,
निज पद नाम धाम विषय* पहुंचावई॥²⁴

एक बार सतगुरु के सच्चे स्वरूप का दीदार हो जाये और प्रेमरस चखने को मिल जाये, फिर शिष्य के गुमराह होने का कोई भय नहीं रहता। अमृत से अधिक स्वादिष्ट और कल्याणकारी अन्य कौन-सा पदार्थ हो सकता है? सतगुरु अपने शिष्य पर किस प्रकार कृपा करता है, भाई गुरुदास जी बताते हैं:

* इसका एक पाठांतर सिखै भी है।

प्रेम रस अमृत निधान पान पूर्ण है,
परमद्भुत गति आतम तरंग है।
इत ते दृष्टि सुरति सबद बिसरजित,
उत ते बिसम असचरज प्रसंग है॥
देखै सो दिखावै कैसे सुनै सो सुनावै कैसे,
चाखै सो बतावै कैसे, राग रस रंग है।
अकथ्य कथा बिनोद अंग अंग थकित है,
हेरत हिरानी बूंद सिन्धु सरबंग है॥²⁵

सतगुरु अमृत का स्रोत होते हैं। जब वे अपने शिष्य को अपने प्रेम का रस चखाते हैं तो उसे अपनी कमियों, कमज़ोरियों से ऊँचे उठकर एक अनोखी पूर्णता का अनुभव होता है और अनुभव होता है ऐसे परम आनंद का जिसका वर्णन करना संभव नहीं। जब उसकी सुरत नौ द्वारों में से सिमटकर शब्द से जुड़ती है, तब उसे उच्च मंडलों के बहुत ही अनुपम दृश्य देखने को मिलते हैं। जो कुछ वह देखता है, सुनता है, चखता है, वह उसके अपने जीवन में देखे-सुने और खाये-पीये पदार्थों से इतना भिन्न और आश्चर्यजनक होता है कि वह किसी दूसरे को उसका थोड़ा-सा भी आभास नहीं करा सकता। उसका रोम-रोम स्वाद से मस्त हो जाता है, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ मानों आनंद और उल्लास की अधिकता से मस्त हो जाती हैं और वह एक गहरे आश्चर्य में डूब जाता है।

गुरु अर्जुन साहिब ने स्पष्ट किया है, नानक से अखड़ीआं बिअंन जिनी डिसंदो मा पिरी॥²⁶—जिन आँखों से परमात्मा का साक्षात्कार किया जाता है, वे हमारी ये बाहरी आँखें नहीं, बल्कि इनसे अलग हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि शारीरिक आँखें उसे देखने में सहायक नहीं हैं, तो यह बाहरी प्रकाश जिसके द्वारा ये आँखें अपना कार्य करती हैं, उस प्रभु के साक्षात्कार के लिये काम नहीं आ सकतीं। धरती पर जलते दीपक, आकाश में चमकते तारे, चंद्र, सूर्य आदि ये सभी जड़ प्रकाश पैदा करते हैं, जबकि आंतरिक आँख को चेतन प्रकाश चाहिये और वह प्रकाश गुरु की शिक्षा और उस शिक्षा की

कमाई द्वारा सुलभ होता है। जहाँ प्रभु का निवास है और इस मन तथा आत्मा ने जहाँ उसकी खोज करनी है, अगर वहाँ अर्थात् हमारे घट, अंतःकरण या तीसरे तिल पर अंधकार छाया रहे तो फिर भला दिखाई क्या देगा? बाहर के प्रकाश से तो जो कुछ दिखाई देता है वह कल्याणकारी नहीं, बल्कि माया है जो जीवात्मा को सदा अज्ञान में उलझाकर रखनेवाला मृगजल है:

चंद सूरज लख चानणे तिल न पुजनि सतिगुरु मती।²⁷

भाई साहिब का तात्पर्य है कि हमारी सुरत यानी आत्मा को परमार्थ के विकट पथ पर चलाकर उसे ठिकाने पर पहुँचा देने में समर्थ एकमात्र गुरु है, जो शब्दरूप है। यह उपकार करनेवाला वह गुरु (शब्द) धन्य है, उस गुरु को गुरुमुख या देहधारी गुरु द्वारा खोजा या पाया जा सकता है। शब्द की कमाई करने से शिष्य (सुरत) उस गुरु (शब्द) में समा जाता है, उसके साथ एकरूप हो जाता है और इस प्रकार वह अलख पारब्रह्म को लख लेता है क्योंकि शब्द निर्गुण ब्रह्म का ही रूप है, उससे भिन्न नहीं।

इस प्रसंग में भाई गुरुदास फ़रमाते हैं:

मुरदा होइ मुरीदु सो गुर गोरि समावै।

सबद सुरति लिव लीणु होइ ओहु आपु गवावै।²⁸

जब शिष्य अपनी सुरत को शब्द में इस हद तक लीन कर देता है कि उसका आपा, उसका अहं समाप्त हो जाता है, तब वह गुरु में उसी तरह समा जाता है जिस प्रकार गुफा या क़ब्र में मुर्दा। इस प्रकार उसका शब्द या गुरु में समाना प्रभु में समाने के समान है या ऐसे समझ लें:

सुरसरि संगम है प्रबल प्रवाहि लिव,

सागर अथाह सतगुरु संग संग है॥²⁹

जिस प्रकार पहाड़ों से वेग के साथ बहकर चला आ रहा जल, गंगा से मिलकर अथाह समुद्र में जा मिलता है, उसी प्रकार गुरु में लीन हो जानेवाला शिष्य प्रभु से अभेद हो जाता है।

कृपानिधान

अगर समुद्र में किसी डूबते हुए व्यक्ति को जहाज़ में चढ़ने का मौक़ा मिले, पर वह सवार होने के बजाय उससे दूर रहकर ही हाथ-पैर मारता रहे, तो वह अभाग्य अंत में डूबकर प्राण गँवायेगा ही, जबकि जहाज़ पर चढ़ जानेवाला व्यक्ति निश्चित सफ़र करते हुए पार पहुँच जायेगा। चंदन को छूकर सुगंधित हुई हवा दूर खड़े वृक्ष तक नहीं पहुँचती और वह उसकी सुगंध से वंचित रह जाता है, जबकि उसके निकट खड़ा बदबूदार पेड़ भी उसके समान सुगंधित बन जाता है। जिस स्त्री का पति परदेस में हो, उसके घर दीपक भी नहीं जलता। इसके विपरीत अपने पति के साथ रहनेवाली स्त्री उससे मिलाप का सौभाग्य प्राप्त करती है। इसी प्रकार कृपा के पुंज सतगुरु, प्रेम सहित शब्द का अभ्यास करनेवाले अपने सेवक को पल भर में ही 'सुख-फल' से कृतार्थ कर देते हैं:

बोहिथ* प्रवेस भए निर्भय होइ पारग्रामी†,

बोहिथ समीप बूड मरत अभागे है।

चंदन समीप दुरगन्ध सो सुगन्ध होइ,

दूरतर तरु गंध मारुत‡ न लागे है॥

सेजा संजोग भोग नारि गर हार होत,

पुरुख बिदेस कुल दीपक न जागे है।

श्री गुरु कृपा निधान सिमरन ज्ञान ध्यान,

गुरुमुख सुखफल पल अनुरागे हैं॥³⁰

सतगुरु कितने दयालु हैं, कितने प्रेमी और कितने विशाल हृदय वाले हैं, इसका वर्णन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उनकी महिमा अपरंपार है। यदि उनके चरणों की शरण का कोई इच्छुक उनकी तरफ़ एक क़दम बढ़ाता है तो वे उसके स्वागत के लिये कई करोड़ क़दम चलकर स्वयं

* जहाज़।

† पार या दूसरी ओर पहुँच जाता है।

‡ हवा।

उसके पास पहुँच जाते हैं। यदि कोई जिज्ञासु उनका बख्शा हुआ मंत्र एक बार जपता है, तो बदले में वे उसे बार-बार प्रेम सहित याद करते हैं। उन्हें अपने लिये किसी धन-दौलत की आवश्यकता नहीं होती और न वे अपने लिये कभी कोई भेंट स्वीकार करते हैं। लेकिन अगर कोई शिष्य संगत की सेवा के लिये कुछ भेंट करता है तो वे उसे संगत के उपयोग में लगवा देते हैं तथा देनेवालों को अपनी कृपादृष्टि से निहाल कर देते हैं:

चरन सरन गुरु एक पैँडा जाइ चल,
सतिगुर कोटि पैँडा आगे होइ लेत हैं॥
एक बार सतगुरु मंत्र सिमरन मात्र,
सिमरन ताँहि बारंबार गुरु हेत हैं॥
भावनी भगति भाइ कौड़ी अग्र भाग राख,
ताँहि गुरु सरब निधान* दान देत हैं॥
सतगुरु दयानिधि महिमा अगाध बोध,
नमो नमो नमो नमो नेति नेति नेति हैं॥³¹

संसार के लोग बहुत छोटी-छोटी चीज़ों की इच्छाएँ मन में रखकर अलग-अलग दहलीज़ों पर माथा रगड़ते फिरते हैं और जिस द्वार से कुछ प्राप्त हो जाये, उसे ही सब कुछ मान लेते हैं। आम तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि कामधेनु या कल्पवृक्ष से केवल एक नहीं, अधिक इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। स्वाभाविक है कि ऐसे विचारवाले व्यक्तियों के लिये उक्त गाय और वृक्ष विशेष सम्मान के अधिकारी बन जाते हैं। पर इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इन शक्तियों द्वारा सांसारिक इच्छाएँ ही पूर्ण की जा सकती हैं और संसार से प्राप्त हुआ लाभ संतान, संपत्ति, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि चाहे कुछ भी हो, सब कुछ यहीं पर रह जाता है। जो वस्तु अमर, स्थायी और अविनाशी है, उसे करोड़ों कामधेनु या कल्पतरु एक साथ प्रयत्न करके भी नहीं दे सकते,

* खज़ाना।

जबकि संत-सतगुरु की थोड़ी-सी दयादृष्टि के द्वारा ही ये सारे पदार्थ मिल जाते हैं। इस संबंध में भाई गुरुदास का तुलनात्मक निर्णय सुनें:

कोटिन कोटान कामधेनु औ कल्पतरु,
पुजस न किन्चित कटाच्छ के रचन कौ॥³²

सतगुरु की थोड़ी-सी दयादृष्टि से शिष्य की देह पवित्र हो जाती है, उसकी दृष्टि अगम्य कौतुक देखने के योग्य हो जाती है और सतगुरु की दिखाई दिव्य ज्योति का ध्यान करने से प्रत्येक प्राणी में प्रभु का ही स्वरूप दिखाई देने लगता है:

किंचत* कटाच्छ दिब्ब देहि दिब्ब दृष्टि होइ,
दिब्ब जोति कै धिआन दिब्ब दृष्टांत कै॥³³

महापुरुष बताते रहे हैं कि निर्गुण परमेश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होना बहुत कठिन है, पर वह प्रेम उसके सगुण रूप सतगुरु से बड़ी सहजता से पैदा हो जाता है। इसके कारण आपने ये दृष्टांत दिये हैं:

अगर नासमझ बालक अपने पास से ही जा रहे एक ज़हरीले साँप की सुंदरता पर मोहित होकर उसे हाथ से पकड़ने लगे तो माता उसकी कुबुद्धि के लिये डंडा उठाकर नहीं मारती, बल्कि मधुर वाणी से पुचकारकर उसका ध्यान अपनी ओर मोड़ती है और उसे छाती से लगा लेती है। जब किसी गंभीर रोग से पीड़ित कोई व्यक्ति किसी वैद्य या डॉक्टर के पास जाता है, तब वह उसे उसकी बीमारी की गंभीरता का विवरण देकर उसके प्राण नहीं सुखा देता, बल्कि उसे धैर्य देकर दवा और परहेज़ द्वारा पुनः स्वस्थ कर देता है। योग्य अध्यापक को पता होता है कि जब कोई विद्यार्थी पढ़ना शुरू करता है तो उससे भूलें हो ही जाती हैं; इसलिये वह उसकी गलतियों पर ध्यान न देकर, समझा-बुझाकर उसे विद्वानों की पंक्ति में खड़ा कर देता है। इसी प्रकार सतगुरु जब अपने शिष्य में कोई दोष

* थोड़ी-सी।

या बुराई देखता है तो वह आम मनुष्यों की तरह उसकी इस कमज़ोरी के कारण दूसरों के सामने उसकी हँसी नहीं उड़ाता, बल्कि प्रेमभरी सुमति द्वारा उसे सब बुराइयों से मुक्त कर देता है:

जैसे कर गहत सर्प सुत पेखि माता,
कहै न पुकार, फुसलाय उर मण्ड है।
जैसे वैद्य रोगी प्रति कहै न बिथार बृथा,
संयम कै औषधि खवाय रोग डण्ड है।
जैसे भूल चूक चटिया* की न बीचारै पांधा,
कह कह शिक्षा मूर्खत्व मति खण्ड है।
तैसे पेख औगुण कहै न सतगुरु काहुँ,
पूर्ण बिबेक समझावत, प्रचण्ड है॥³⁴

भाई गुरुदास जी सतगुरु की दयालुता, उदारता और क्षमाशीलता के विशेष गुणों का बखान करते हुए अघाते नहीं। आपने निम्नलिखित कवित्त में इसी भाव को दर्शाया है:

जैसे तो करत सुत अनिक अज्जानपन,
औगुण जननि नाहि तरु उरि धारियो है।
जैसे तौ सरण सूर पूर्ण प्रतिज्ञा राखे,
अनिक अवज्ञा कीए मार न बिडारयो है॥
जैसे तौ सरिता जल काष्टहि न बोरत† है,
करे चित लाज अपनो ही प्रतिपारियो है।
तैसे ही परम गुरु पारस परस गति,
सिक्खन को कृत्य कर्म कछु न बिचारयो है॥³⁵

* विद्यार्थी।

† नहीं डुबोती।

पुत्र माँ के सामने चाहे कितने भी ग़लत काम करता जाये तो भी माँ उन्हें अनदेखा कर देती है। जब कोई सूरमा एक बार किसी कमज़ोर को अपनी शरण में ले ले तो वह उसकी लाख अवज्ञाओं के बावजूद उसे दुत्कारकर बेसहारा नहीं छोड़ता। पानी लकड़ी को शुरू से सींचकर बड़ा करता है, इसलिये अगर लकड़ी कभी नदी में आ गिरे तो वह अपने बिरद के कारण उसे डूबने नहीं देता। यही ढंग कृपापुंज सतगुरु भी अपनाता है। वह परम पारस है, जो अपने संपर्क में आनेवाली निकम्मी धातुओं को भी सोना बनाता है, चाहे वे पूरी तरह खोट से भरी क्यों न हों। अपनी बख्शिाश के द्वार खोलते समय वह शिष्य के कर्मों की ओर देखता तक नहीं। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है पानी वृक्ष को सींचकर बड़ा करता है, इसलिये वह अपने किये इस पालन की लाज को निभाते हुए लकड़ी को अपनी धारा में गिरने पर डुबाता नहीं। वही वृक्ष जब नाव या जहाज़ के रूप में अपनी कीलों और पतवारों से पानी को चीरता है तो वह मानो उसके दो टुकड़े करनेवाला करवत (आरा) बन जाता है। पर पानी फिर भी अपना बिरद नहीं छोड़ता, उसकी सँभाल से मुँह नहीं मोड़ता। इसी प्रकार सतगुरु अपनी शरण में आये शिष्य के अंग-संग रहता है, उसके अवगुणों या दोषों को देखकर भी उसे त्याग नहीं देता, उसका हाथ नहीं छोड़ता:

पाणी काठ न डोबई पाले दी लजै।

सिरि कलवत्र धराइ कै सिरि चड़िआ भजै।³⁶

जो प्रेम, अपनत्व, स्नेह, उदारता, रक्षा, सहायता, बिना किसी स्वार्थ, लोभ या बदले में कुछ पाने की इच्छा के सतगुरु से अपार मात्रा में मिलती है, वह किसी और सगे-संबन्धी से प्राप्त नहीं हो सकती। आपने देखा है कि शतरंज में रुख (हाथी) बड़ा मूल्यवान मुहरा माना जाता है, क्योंकि वह सीधे तौर पर कोने से कोने तक पट्टी का सारा मार्ग तय कर लेता है और फ़ील (ऊँट) भी उतनी ही दूरी टेढ़ी चालें चलकर तय कर सकता है। इनकी वज़ीर के मुकाबले में बहुत कम क्ऱद्र होती है, क्योंकि वह

इन दोनों मुहरों की चाल चल सकता है और अकेला ही सीधी-आड़ी आठ की आठ पट्टियाँ सँभाल लेता है। पर सतगुरु सभी कुछ करने में समर्थ होता है। जो वादा वह निभाता है, उसे हमारे सभी संबंधी और मित्र मिलकर भी नहीं निभा सकते। संसार के हितैषी तो क्या, अनेक शक्तियों के धनी देवी-देवता भी नहीं, क्योंकि वे दूसरे जीवों जैसे ही जीव होते हैं। परंतु सतगुरु स्वयं परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। इसलिये भाई गुरुदास को यह कहते हुए संकोच नहीं हुआ:

सतिगुरु तुलि न मिहरवान माता पिता न देव सबाए।³⁷

यह कथन कोई सुनी-सुनाई या नक़ल करने जैसी बात नहीं थी, पूरी जाँच के बाद अपने निजी अनुभव के आधार पर दी गई साक्षी थी:

डिठे सभे ठोकि वजाए।³⁸

सतगुरु का संरक्षण

सतगुरु यदि एक बार किसी की बाँह पकड़ लें, तो उसे छोड़ते नहीं। उनकी सँभाल, उनका संरक्षण पत्थर पर खुदे लेख के समान स्थायी होता है। वे जानते हैं कि भूल करना इनसान की कमज़ोरी है और शिष्य भी आख़िर इनसान ही होते हैं। इसलिये उन्हें क्रोध नहीं आता। वैसे भी उनकी क्षमाशीलता किसी नाराज़गी को पानी पर खींची हुई रेखा बना देती है। वे तो शत्रु का भी बुरा नहीं चाहते:

साधु की सुजनताई पाहन की रेख प्रीति,
बैर जल रेख है, बिसेख साधु संग में॥³⁹

गुरु रामदास जी कहते हैं:

जिउ जननी सुत जण पालती राखै नदर मझार॥
अंतर बाहर मुख दे गिरास खिन खिन पोचार॥
तिउ सतगुर गुरसिख राखता हर प्रीत पिआर॥⁴⁰

अपनी संतान तो सभी माता-पिता को प्रिय होती है और वे अपनी ओर से उसकी सँभाल में कोई कमी नहीं रहने देते, पर उनकी सँभाल का सामर्थ्य सीमित होता है, केवल उतना जितना अपने चूज़ों की परवरिश के लिये किसी मुर्गी में होता है। मुर्गी उसी अंडे को सेंक सकती है जो उसके पंखों के नीचे छिप जाये, थोड़े बाहर रह गये अंडे के लिये उसकी गर्मी लाभदायक नहीं होती। इसके विपरीत, कछुवी नदी के किनारे रेत में अंडे देकर पानी में आकर रहने लगती है और केवल अपने ध्यान से उनकी देखभाल करती है। कछुवी के अंडे उससे बहुत दूरी पर नहीं होते, वह चाहे तो दिन में कई बार उनके पास जाकर उनकी कुशलता के बारे में तसल्ली कर सकती है; जबकि कहते हैं कि कूँज, ऋतु के अनुसार अपने बच्चों को पीछे छोड़कर कई महीनों के लिये मीलों दूर चली जाती है, तब भी वहाँ देश-विदेश में उसका ध्यान अपने बच्चों पर केंद्रित रहता है और उस ध्यान के कारण वे अपनी माँ की उपस्थिति के अभाव में भी भलीभाँति पलते हैं। हमारे माता-पिता के पालन-पोषण और सतगुरु की सँभाल में भी मुर्गी और कूँज के समान अंतर है। निरंतर भजन-सिमरन करनेवाले अपने शिष्य को सतगुरु गिरने या डोलने नहीं देता, भले ही वह कितनी ही दूर रहता हो। भाई गुरुदास इसी विचार को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट करते हैं:

कछू आंडा धिआनु धरि करि परपकु नदी विचि आणै।

कूँज रिदै सिमरणु करै लै बचा उडदी असमाणै। ...

गिआन धिआनि सिमरणु सदा सतिगुरु सिखु रखै निरबाणै।⁴¹

वास्तविकता यह है कि अगर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार जैसी विरोधी शक्तियों की सेना चढ़ाई कर दे, जिसमें रूप, बल, सुख, संपत्ति आदि सब का नाश हो जाता है, तो भी वे उस शिष्य का बाल भी बाँका नहीं कर पायेंगी, जिसने पूरे गुरु के उपदेश का शस्त्र धारण किया हो और उनके स्वरूप के ध्यान का कवच पहन रखा हो:

कोटिन कोटानि काम-कटक हैं कामार्थी,
 कोटिन कोटानि क्रोध क्रोधि वन्त आहि जी।
 कोटिन कोटानि लोभ लोभी हैं लालच करे,
 कोटिन कोटानि मोह मोहि अवगाहि जी।
 कोटिन कोटानि अहंकार अहंकारी होय,
 रूप रिपु संपै* सुख बल-छल चाहि जी।
 सतगुर सिक्खन के रोमहि न चांप सकै,
 जामे गुर ज्ञान ध्यान शस्त्र सनाहि† जी॥⁴²

परोपकारी

गुरु अर्जुन साहिब का वाक्य है, जनम मरण दुहहू मह नाही जन परउपकारी आए॥⁴³ इसी बात को भाई गुरदास ने कुछ मिलते-जुलते शब्दों में इस प्रकार कहा है:

जंमणु मरणहु बाहरे परउपकारी जग विचि आए।⁴⁴

सतगुरु कोई साधारण मनुष्यों जैसा मनुष्य नहीं होता। वह तो दयालु होता है, वह स्वयं सतपुरुष होता है, जो जीवों पर दया करके उनके उद्धार के लिये सचखंड से चलकर पृथ्वी पर उतर आता है। उसका स्वरूप निराकार द्वारा धारण किया आकार होता है। उसके देहधारी होकर आने की आवश्यकता इसलिये पैदा होती है, क्योंकि ऐसा किये बिना शब्द जो उसका (प्रभु का) सच्चा नाम है, उसे संसार के जीवों पर प्रकट नहीं किया जा सकता, उन्हें सुनने की विधि नहीं समझाई जा सकती:

सतिगुर पुरखु दइआलु दइआ करि आइआ।
 निरंकार आकारु सबदु सुणाइआ।⁴⁵

* संपत्ति।

† कवच।

बादल काली घटाओं के रूप में आकाश में घिर आते हैं। उनकी गर्जन कानों में गूँजती है और उनकी चंचल बिजली की चमकार दूर-दूर तक दिखाई देती है। फिर उनमें से अमृतमय जल बरसता है, जिसकी कृपा से मुक्ता, कपूर* आदि अनेक लाभदायक दवाइयाँ और बहुत कुछ उत्पन्न होता है। बादल को किसी के एहसानों का कर्ज नहीं चुकाना होता। वह अपना सब काम लोकहित की दृष्टि से करता है। इसी प्रकार संत-सतगुरुओं को पिछले कर्मों की फ़सल नहीं काटनी होती, उनका जन्म किसी के उपकारों का बदला चुकाने के लिये नहीं होता, बल्कि वे केवल परोपकार के प्रयोजन से पवित्र देह धारण करके प्रकट होते हैं:

जैसे तौ अकस्मात बादर उदोत होत,
 गगन घटा घमण्ड करत बिथार जी।
 ताही ते सबद धुनि घन गर्जित अति,
 चंचल चरित्र दामिनी चमत्कार जी।
 बरखा अमृत जल मुक्ता कपूर तांते,
 औषधि उपार्जना अनिक प्रकार जी।
 दिव्य देह साधु जन्म मरण रहत जग,
 प्रगटित करिबे को परउपकार जी॥⁴⁶

सतगुरु अपने शिष्य के लिये क्या कुछ करने में समर्थ नहीं होता, भाई साहिब एक बार फिर सुंदर तथा उपयुक्त शब्दों में यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं। आप बताते हैं कि संसार में जो एकमात्र प्राप्त करने योग्य वस्तु है, वह शब्द (नाम) है जो सतगुरुरूपी साहूकार की दुकान से ही मिलता है, किसी अन्य मंडी या बाज़ार से नहीं मिल सकता। अगर उसने एक बार यह वस्तु हमारी झोली में डालने के लिये 'हाँ' कर दी तो बाद

* माना जाता है कि स्वाति बूँद यदि सीप में गिरती है तो वह मोती बन जाती है और केले के पेड़ की जड़ में गिरती है तो कपूर बन जाती है।

में यह कहकर नहीं मुकरता कि तुम्हारे पास उसकी क्रीमत चुकाने के लिये कोई मूल्य नहीं है। वह तो दोषों यानी पापरूपी कंकड़ों के बदले में शुभ गुणों के हीरे, रत्न लुटा देता है। अगर हम सदा फलहीन रहनेवाले सेमल वृक्ष की तरह हों, तो भी वह हमें मीठे फलों से लाद देगा और अगर हम अनेक जन्मों के कुकर्मों के कारण गल-सड़कर कच्चे लोहे से निरा मनूर या जंग बन गये हों तो भी उसका पारस-स्पर्श हमें खरे सोने में बदल देगा। वह चाहे तो किसी बाँस जैसे अहंकारी और स्वार्थी जीव को हर ओर सुगंध बिखेरनेवाला परोपकारी चंदन बना दे और कौए जैसे काले मन वालों से हंसों जैसे सज्जन पुरुषों की बराबरी करवा दे। उसकी संगति में उलूक (मूर्ख) ज्ञानवान बन जाते हैं, धूलि के कण मोतियों का रूप धारण कर लेते हैं। और तो और जिस परमेश्वर का किसी भी वेद-शास्त्र, ग्रंथ-पोथी के पढ़ने से थोड़ा-सा भी भेद नहीं मिलता, सतगुरु शब्द के अभ्यास द्वारा उसका साक्षात्कार करा देता है, उससे मिलाप करा देता है:

सउदा इकतु हटि है साहु सतिगुरु पूरा।
 अउगुण लै गुण विकणै* वचनै दा सूर।
 सफलु करै सिमलु बिरखु सोवरनु† मनूरा।
 वासि सुवासु निवासु करि काउ हंसु न ऊरा‡।
 घुघू§ सुझ सुझाइदा संख मोती चूरा॥
 वेद कतेबहु बाहरा गुर सबद हजूर॥⁴⁷

संसार में लोगों को आवश्यक वस्तुएँ बेचने के लिये जगह-जगह बाज़ार खुले हैं। कपड़ा, साबुन, तेल आदि की तो कई दुकानें होती ही

* बेचना।

† स्वर्ण, सोना।

‡ कम।

§ उल्लू।

॥ धूलि।

हैं, हीरे-जवाहरात जैसी बहुमूल्य वस्तुओं की खरीद के लिये भी कुछ विशेष दुकानें पायी जाती हैं। पर नाम का सौदा केवल एक ही व्यापारी से मिलता है—पूर्ण गुरु से। इसकी प्राप्ति का साधन है—उसका उपदेश। सतगुरु स्वयं सर्वगुणसम्पन्न होता है, इसलिये उसकी बख्शी दात भी हर प्रकार से पूर्ण होती है, जिसकी कोई मिसाल नहीं। उसकी जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ी ही है:

सउदा इकतु हटि सबदि विसाहीऐ।

पूरा पूरे वटि कि आखि सलाहीऐ।⁴⁸

नाम की अमूल्य वस्तु केवल सतगुरु की दुकान से मिलती है, यह उसका एक विशेष गुण है। इसके समान ही एकदम अनूठा है उसका उदार व्यवहार। हम जानते हैं कि ग्रामीण लोग दिन निकलते ही खेतों में हल चलाने, कपास में गुड़ाई करने, ईख आदि को सींचने के अपने कामों के लिये खेतों की ओर चले जाते हैं और उधर घर में गृहिणी को किसी न किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती रहती है जैसे कि अचानक किसी मेहमान के आ जाने पर चाय की पुड़िया, दामाद के लिये मुट्ठी भर चीनी। वह घर से गेहूँ, मक्की या ज्वार की झोली भरकर बेचने के लिये दुकानदार के यहाँ ले जाती है। दुकानदार उसकी रुपये की वस्तु की क्रीमत अस्सी पैसे ही लगाता है और अपनी साठ पैसे की चाय और बूरा अस्सी पैसे की बनाकर बेच देता है। इस प्रकार की दुकानों पर पहुँचनेवाला ग्राहक कभी कुछ कमाकर नहीं लौटता, वह सदा गँवाता ही है। जिस प्रकार काठ की हाँडी की असलीयत एक बार चूल्हे पर चढ़ने से ही मालूम हो जाती है, उसी प्रकार इन दुकानों पर जाने से ज्ञान हो जाता है कि यहाँ पर ग्राहक ठगा जाता है, इनसे बचकर चलने में ही भलाई है। ऐसे कच्चे या अधूरे गुरुओं की तुलना में पूरा गुरु अपने दर पर आये जिज्ञासुओं की झोलियाँ दया-मेहर से भर देता है। उसकी शोभा चारों ओर दूर-दूर तक फैल जाती है और सच्चे श्रद्धालु उसकी शरण में चले आते हैं:

आन हाट के हटूआ* लेत है घटाय मोल,
 देत है चढ़ाय डहकत† जोई आवे जी।
 तिन से बणज कीये बिड़ता‡ न पावै कोऊ,
 टोटा को बणज पेखि पेखि पछुतावै जी।
 काठ की हांडी जैसे चढ़ै एकै बारि,
 (कोऊ) कपट व्योहार कीए आपहि लखावै जी।
 सतगुरु साह गुण बेच अवगुण लेत,
 सुनि सुनि सुजस जगत उठि धावै जी॥⁴⁹

एक थोक के व्यापारी की दुकान होती है, उससे कितने ही छोटे-छोटे व्यापारी माल खरीदकर ले जाते हैं, नक़द और उधार भी। फिर वे उस माल को आगे ले जाकर जगह-जगह बेचकर बहुत धनवान बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस किसी को परमार्थ की दौलत कमानी होती है, वह पूरे गुरु की संगति में आता है और उनसे नाम का सौदा प्राप्त करके संसार और धुर दरगाह में मान प्राप्त करता है। गुरु की दुकान का ग्राहक बने बिना, न तो किसी अवतार या वली का कारोबार चला है और न ही ऋषि-मुनि, योगी, संन्यासी या साधक का। गुरुरूपी साहूकार की एक अनुपम विशेषता यह है कि उसका व्यवहार केवल एक ओर जानेवाली गली के समान है। वह देता ही देता है, वापस कुछ नहीं लेता। फिर भी उसके भंडार सदा भरे रहते हैं, उसके द्वार से कोई निराश नहीं लौटता:

दस अवतार हजार नाव थान मुकाम सभे वणजारे।
 इकतु हटहुं वणज लै देस दिसंतरि करन पसारे।
 सतिगुरु पूरा साहु है बेपरवाहु अथाह भंडारे।
 लै लै मुकर पानि सभ सतिगुरु देइ न देंदा हारे।⁵⁰

* दुकानदार।

† ठगता है।

‡ लाभ।

इच्छापूरक

विषय-वासना की आग भोगों के ईंधन से नहीं बुझती, बल्कि उन्हें भोगने से वह उतनी ही ज़्यादा प्रज्वलित होती जाती है। एक बार संतुष्ट हुई कामवासना बार-बार संतुष्ट होने के लिये उतावली हो जाती है। धन की लालसा रखनेवाले को लाख रुपये मिल जायें तो वह करोड़पति बनने के लिये बेचैन हो जायेगा। महापुरुषों के कथनानुसार हानिकारक रसों की तृष्णा से बचने का उपाय यही है कि उनसे अधिक शक्तिशाली आकर्षण वाले किसी मधुर रस की प्राप्ति होना और रसों में शिरोमणि रस केवल नामरूपी अमृत है। जब सतगुरु शिष्य को इस रस का चस्का लगा देते हैं, तब वह अन्य किसी रस के बारे में सोचता तक नहीं। फ़रीद साहिब ने ठीक ही कहा है:

फरीदा सकर खंड निवात* गुड़ माखिओ† मांझा दुध‡॥
 सभे वसतू मिठीआं रब न पुजन तुध॥⁵¹

अपने शिष्य को कामनाओं से मुक्त करने के लिये सतगुरु क्या युक्ति अपनाते हैं, भाई गुरदास जी समझाते हैं:

जैसे मिष्टान्न पान पोष तोष बालकहि,
 अस्थन पान बान जननि मिटावई।
 मिसरी मिलाए जैसे औषधि खवावै बैद्य,
 मीठे कर खात रोगी, रोगहि घटावई॥
 जैसे जल सींच सींच धानहि कृसान पाले,
 भये परिपक काट घर में ले आवई।
 तैसे गुरु कामना पुजाय निःकाम कर,
 निज पद नाम धाम विषय पहुंचावई॥⁵²

* मिसरी।

† शहद।

‡ भैंस का दूध।

पाँचवें गुरु श्री अर्जुन साहिब का वचन है, जितड़े फल मन बाछीअह तितड़े सतगुरु पास॥⁵³ - सत्संगी के मन में जो भी इच्छा हो, सतगुरु उसे पूर्ण करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार भाई गुरुदास कहते हैं:

जैसो जैसो भाउ करि पूजत पदारबिंद,
सकल संसार कै मनोरथ पुजावई॥⁵⁴

डॉक्टरों, वैद्यों और हकीमों के पास प्रतिदिन कितने ही रोगी आते हैं। किसी को कोई रोग, किसी को कोई कष्ट और पूछताछ के बाद उनमें से प्रत्येक को उसके रोग की दवाई मिल जाती है। कार्यालयों में हज़ारों बेरोज़गार काम की तलाश में पहुँचते हैं और वहाँ जिसकी जैसी योग्यता होती है, उसे वैसे स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। दानी पुरुषों का ज़रूरतमंदों से संबंध हो जाता है, कोई भूखा, कोई तन ढाँपने के लिये आतुर और वे परोपकारी इन मुसीबत के मारों पर तरस खाकर इनकी कठिनाइयों का निवारण कर देते हैं। इसी प्रकार जब कोई जिज्ञासु सतगुरु का पल्ला पकड़ता है तो वे कृपानिधान उसकी प्रेम भावना का लिहाज़ करके उसके मन की इच्छाओं को पूर्ण कर देते हैं। सतगुरु वैद्यों में परम वैद्य होते हैं, शाहों में शहंशाह और दाताओं में परमदाता। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो वे दे नहीं सकते? वे सर्वसमर्थ हैं और द्वार पर आनेवालों के गुण-अवगुण नहीं देखते; बस, उनके प्रेम भाव पर ही रीझ जाते हैं और उन्हें निहाल कर देते हैं:

जैसे तउ अनेक रोगी आवत हैं बैद ग्रिहि,
जैसो जैसो रोग तैसो अउखधु खवावई॥
जैसे राज द्वार लोग आवत सेवा नमित,
जोई जाहीं जोग तैसी टहिल बतावई॥
जैसे दाता पास जन अरथी* अनेक आवैं,

* ज़रूरतमंद, याचक।

जोई जोई जाचै दे दे दुखन मिटावई॥
तैसे गुर सरन आवत हैं अनेक सिख,
जैसो जैसो भाउ तैसी कामना पुजावई॥⁵⁵

चरण-शरण

जब शिष्य सुरत-शब्द का अभ्यास करते हुए तारामंडल, सूर्यमंडल और चंद्रमंडल पार करके नूरी स्वरूप सतगुरु के चरणकमलों की शरण में पहुँच जाता है, तो उसे अनंत सुख की प्राप्ति होती है:

रवि ससि उलंघ सरन सतगुर गही,
चरन कमल सुख संपट मिलाप ही॥⁵⁶

एक अन्य कबित्त में आपने बताया है कि इन चरणों की महिमा, ज्ञान और वर्णन से परे है:

चरन कमल गुरु महिमा अगाध बोध,
नेति नेति नमो नमो कै नमसकार है॥⁵⁷

वह कौन-सा फल या कौन-सा धन है, जो गुरु के चरणकमलों से प्राप्त नहीं होता:

चरण कमल गुरु महिमा अगाध बोध,
सर्व निधान औ सकल फलदाई है॥⁵⁸

जब सूर्य उदय होता है, वायुमंडल में उड़ते धूल के अनेक बारीक कण उसकी रोशनी के तेज में कहीं दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार गुरु के चरणकमलों में ऐसा दिव्य प्रकाश होता है कि अगर लाख सूर्य एक ही समय इकट्ठे उदय हो जायें तो भी वे इस प्रकाश में साधारण धूलि की भाँति खो जायें, कहीं दिखाई न दें:

चरण कवल दल जोति विचि लख सूरजि लुकि जानि रवाले।⁵⁹

एक बार शिष्य तन-मन से गुरु की शरण में आ जाये तो फिर वह उसे किसी भी परिस्थिति में यमदूतों के सुपुर्द नहीं करता। गुरु अपने शिष्यों का सच्चा माता-पिता होता है। माता-पिता अपने क्रसूरवार बच्चे को स्वयं डाँट लेते हैं, पीट भी लेते हैं, परंतु उसे हवालात में बंद नहीं करवाते:

मन बच कर्म गुरु चरण सरणि सिख,
तांते सतगुर जमदूतहि न देत है॥⁶⁰

यदि कोई प्राणी आकाश से गिरते समय हवा से लिपटकर बचना चाहे तो उसका प्रयत्न कभी सफल नहीं होगा और आग में जलता हुआ जीव यदि धुएँ की चादर लपेट ले, तो आग की लपटों से उसका बचाव नहीं होगा। अथाह समुद्र की गहराइयों में डूबते समय झाग के सहारे तैरकर पार हो जाने की आशा रखना व्यर्थ है। इसी प्रकार देवी-देवताओं की सेवा और पूजा पर निर्भर रहकर जन्म-मरण से मुक्ति पाना संभव नहीं, गुरु की शरण में आये बिना इनसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता:

गिरत अकास ते परत पृथ्वी पर,
जो गहै आसरा पवन, कवनहि काजि है।
जरत बैसन्तर* जौ धाय धाय धूम्र गहै,
निकस्यो न जाय खल बुद्धि† उपराज है।
सागर अपार धार बूडत‡ जउ फेन गहै,
अन्यथा बीचार पार जैबे को न साज है।
तैसे आवागवन दुखत आन देव सेव,
बिनु गुर शरण न मोक्ष पदु राज है॥⁶¹

* आग।

† मूर्ख।

‡ डूबता है।

मोक्षपद पर पहुँचने के लिये आध्यात्मिक मार्ग का ज्ञान होना आवश्यक है। ध्यान करने की विधि जाने बगैर काम नहीं बनता और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये गुरु का पथ प्रदर्शन ज़रूरी है। यहाँ और कोई साधन कारगर नहीं होता। यदि कोई नेत्रहीन अपने जैसे ही किसी अन्य अंधे से पूछे कि नरगिस और नींबू के फूलों की शकल और रंगों में क्या फ़र्क़ होता है तो वह क्या उत्तर देगा। इसी प्रकार एक बहरे को दूसरे बहरे से भिन्न-भिन्न रागों और साज़ों की विशेषता के बारे में क्या जानकारी मिलेगी या एक गूँगा बोल पाने में असमर्थ होने के कारण किसी बात पर प्रकाश कैसे डाल सकेगा? अंतर का अंधकार तो केवल गुरु के हटाने से ही हटता है:

जैसे रूप रंग बिधि पूछै अन्ध; अन्ध प्रति,
आप ही न देखै ताहि कैसे कै दिखावई।
जैसे राग नाद पूछै बहरो; जो बहरा पै,
समझै न आपि ताहि कैसे समझावई।
जैसे गुंग; गुंग पै बचन बिबेक पूछै,
बोल न सकत कैसे सबद सुनावई।
बिनु सतगुर खोजै ब्रह्म ज्ञान ध्यान (जो पै),
अन्यथा अज्ञान मति आन पै न पावई॥⁶²

जब गुरु शिष्य को अपनी शरण में ले लेता है, उसे अपना बना लेता है, फिर शिष्य मानो एक निर्धन व्यक्ति से परम धनी बन जाता है, वह मायामय जगत की सीमा को पार करके उच्च आत्मिक मंडलों में प्रवेश प्राप्त कर लेता है:

गुरुसिख संधि मिले, बीस इक ईस ईस,
इत ते उलंघ, उत जाइ ठहरावई॥⁶³

जब कभी कोई पालतू कुत्ता कहीं जा रहे अपने मालिक के साथ चल दे तो वह मालिक की तरह सीधे रास्ते पर नहीं चलता। वह कभी

बायें किसी झाड़ी की ओर दौड़ जायेगा, कभी कूड़े के ढेर को बिखेरकर उसमें से कोई अनोखी वस्तु ढूँढ़कर निकालने का प्रयत्न करेगा। परंतु मालिक दृढ़तापूर्वक अपनी निश्चित दिशा की ओर चलता जाता है और कुत्ते की उससे जुदा होने की नीयत नहीं होती, इसलिये वह इधर-उधर झूझ मारकर वापस सही मार्ग पर आ जाता है। इसके विपरीत मनुष्य का मन आशा-तृष्णा द्वारा प्रेरित सांसारिक गतिविधियों में मग्न होकर भटकता तो कुत्ते की ही तरह है, बल्कि उससे भी कई गुना अधिक, पर मन के साथ जुड़ी हुई आत्मा कुत्ते की तरह मन के अधीन है और उसके साथ बैंधी हुई है, इसलिये वह विवश होकर उसके साथ ही दुःखी और परेशान होती रहती है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन उलझनों में ही गुज़र जाता है, उससे अपनी मंज़िल की ओर चार क़दम भी नहीं बढ़ाये जाते। हाँ, यदि कभी गुरु की शरण प्राप्त हो जाये तो उसकी दया से मन का भटकना समाप्त हो जाता है, आसा-मनसा प्रभावहीन हो जाती है, फिर तो उसका जन्म सफल हो जाता है:

चरन सरनि गहे धावत बरज राखै,
आसा मनसा थकित सफल जनम है।⁶⁴

चरण-शरण से बुद्धि स्थिर हो जाती है और आत्मा को सहज अवस्था प्राप्त हो जाने का सुफल मिल जाता है:

चरन सरन गुरु भई निहचल मति,
मन उन्मन लिव सहज समाए हैं॥⁶⁵

शिष्य को सतगुरु के चरणों में शरण मिल जाये तो उसे स्वर्ग या बैकुंठ जैसे किसी धाम की इच्छा नहीं रहती। गुरु की शरण एक ऐसा धाम है जिसमें रहते हुए किसी प्रकार की कामना मन को विचलित नहीं करती, वहाँ प्राप्त होनेवाली तृप्ति से कोई भी तृष्णा बाक़ी नहीं रह जाती। उन चरणों की सेवा में लग जाने पर किसी अन्य इष्ट के आगे सिर झुकाने का विचार ही नहीं आता:

सतगुरु चरन सरन निहकाम धाम,
सेवक न आन देव सेव की न प्रीति है॥⁶⁶

अगर कोई वस्तु हमें बिना ख़ास कोशिश किये मिल जाये तो उसके मूल्य का एहसास नहीं होता। हमें उसके अस्तित्व तक का ख़याल नहीं रहता। हवा को ही देखें, वह पौष और माघ में चले तो हम कहने लगते हैं कि यह तो हड्डियों को चीरती जाती है और ज्येष्ठ और आषाढ़ में उसके लू बनकर लगने की शिकायत भी करने लगते हैं, जबकि आम दिनों में उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। पर यही हवा दो-चार मिनट साँस लेने को न मिले, तो हमारे प्राण निकल जायें, हमारी मृत्यु हो जाये। सतगुरु की शरण उसके देने पर, उसी की बख़्शिश के कारण मिलती है। वह बहुत सराहने योग्य दात होती है। पर उसका वास्तविक मूल्य तभी मालूम होता है, जब किसी कारण उससे वंचित हो जायें। निम्नलिखित शब्द भाई गुरदास की आपबीती का वर्णन हो सकता है:

जैसे जल मध्य मीन महिमा न जानै पुनः,
जल बिन तलफ तलफ मरि जात है।
जैसे बन बस्त महात्मै न जानै पुनः,
पर बस भए खग* मृग अकुलात है।
जैसे प्रिय संगम को सुखहि न जानै त्रिय,
बिछुरत बिरह बृथा कै बिललात है।
तैसे गुरु चरण शरण आत्मा अचेत,
अन्तर परत स्मृत पछुतात है॥⁶⁷

जब तक मछली पानी के अंदर तैरती रहती है, उसे पानी के महत्त्व का कोई ज्ञान नहीं होता। पर उससे बाहर निकलते ही वह तड़प-तड़पकर मर जाती है। जंगल में आज़ाद उड़ते-विचरते पक्षी और मृग आदि जानवर

भी नहीं जानते कि जंगल में स्वच्छंद विचरण करने का क्या आनंद है, पर जब कभी शिकारी के चंगुल में फँसकर बंदी हो जाते हैं, तब उन्हें जंगल की आज़ादी का मूल्य समझ में आता है। पति का मिलाप प्राप्त करनेवाली स्त्री इस मिलाप की क्रीमत् से तब तक अनजान रहती है, जब तक उसे पति से वियोग होने की असह्य पीड़ा का अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार गुरु की शरण में जो माता की गोद जैसी ममता और सुरक्षा प्राप्त होती है, शिष्य उसके आनंद की ओर से बेपरवाह ही रहता है। पर जब वह गोद छिन जाती है तो बीते दिनों की याद करके पछताता है, हाय! तब मैंने उसकी क्रूर क्यों नहीं की?

जब सतगुरु किसी व्यक्ति को अपनी शरण में ले लेता है, तब उसे धर्मराज के पास लेखा नहीं देना पड़ता, चाहे इससे पहले वह किसी भी प्रकार के कर्म इकट्ठे कर चुका हो। गुरु रामदास जी का कथन है, धरम राए दर कागद फारे जन नानक लेखा समझा॥⁶⁸—जब उसकी बही या खाता ही न रहे, जीव की देनदारी कौन साबित कर सकेगा?

शरणविहीन

जिस प्रकार मल्लाह की सहायता के बिना जहाज़ दूसरे किनारे नहीं पहुँच सकता, जब तक पारस का स्पर्श न मिले, तब तक घटिया धातु सोना नहीं बन सकती, साधारण पानी गंगा से मिले बिना पवित्र नहीं माना जाता, पति का संयोग प्राप्त किये बिना कोई स्त्री पुत्रवती नहीं कहलाती, बीज बोये बिना फ़सल पैदा नहीं होती और स्वाति बूँद के प्रवेश के बिना सीप मोती से ख़ाली रहती है, इसी प्रकार गुरु के चरणों की शरण प्राप्त किये बिना जीव ज्ञान से कोरे रह जाते हैं, वे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पा सकते:

जैसे मांझ* बैठे बिन बोहिथ न पारि परै,
पारस परस बिनु धातु न कनिक† है।

* मांझी, मल्लाह।

† सोना।

जैसे बिन गंगा नाहि पावन है आन जल,
नारि न भर्तार बिन सुत न अनिक है।
जैसे बिन बीज बोय निपजै न धान धारा,
सीप स्वांति बूँद बिन मुकता न मनिक है।
तैसे ही चरण शरण गुरु भेटे बिनु,
जनम मरण मेटि जनन जनक है॥⁶⁹

परम पारस

कहा जाता है कि पारस को लोहे या ताँबे जैसी कोई साधारण धातु स्पर्श कर जाये तो वह सोना बन जाती है। पर वह इस अनोखे स्पर्श द्वारा किसी धातु या अन्य किसी वस्तु को अपने जैसा पारस नहीं बना सकता। इसके विपरीत, संत-सतगुरु अपने उपदेश और मार्गदर्शन से अपने शिष्य को दिव्य गुणों से युक्त व्यक्ति ही नहीं, बल्कि अपने समान गुरुमुख या संत बनाने में समर्थ होते हैं:

गुरुमुखि पारसु परसि पारसु होईऐ।⁷⁰

जिस प्रकार पारस का स्पर्श पाकर अनेक धातुएँ कुंदन बन जाती हैं, उसी प्रकार गुरुरूपी परम पारस के संपर्क में आकर शिष्य अपनी मनमुखता से मुक्त होकर गुरु जैसा गुणवान व्यक्ति बन जाता है:

परम पारस गुरु परस पारस भए,
कनिक अनिक धात आपा अपरस है॥⁷¹

यह गुरु की एक विशेष बड़ाई है:

पारस होइआ पारसंहु गुरुमुखि वडिआई।⁷²

गुरु परम तीर्थ

जहाँ-जहाँ से गंगा का पानी गुज़रा, वहाँ-वहाँ तीर्थ स्थापित हो गये। यही बात पवित्र मानी जानेवाली अन्य नदियों के संबंध में भी लागू होती है।

पर गुरु तो लाखों नदियों का एक समुद्र है जिसकी गहराई नाप से परे है, उसकी शरण में आने से अनेकों तीर्थों के पुण्यफल मिल जाते हैं:

गुरु दरीआउ अमाउ है लख दरीआउ समाउ करंदा।

इकस इकस दरीआउ विचि लख तीरथ दरीआउ वहंदा।⁷³

प्रभाती राग में गुरु नानक साहिब का वचन है:

गुरु दरीआउ सदा जल निरमल मिलिआ दुरमत मैल हरै॥⁷⁴

जब भाई गुरुदास 'नाम दान इसनान द्विड़ाइआ' कहते हैं तो आपका संकेत गुरुरूपी दरिया में दर्शनरूपी स्नान की ओर होता है, किसी पानी के सरोवर पर पहुँचकर शरीर धोने से नहीं। 'वारां भाई गुरुदास जी सटीक' में 'अंम्रित वेले उठिके जाए अंदर दरीआए न्हवंदे'⁷⁵ पर टिप्पणी करते हुए भाई वीर सिंह ने बताया है, "दरीआइ श्लेष पद है, अर्थात् गुरु का दर्शन करते हैं।"

आत्ममार्ग के राही को मंज़िल-दर-मंज़िल बहुत लंबा रास्ता तय करना पड़ता है। यह सफ़र एक दिन में या एक बार में पूरा नहीं होता और न यह अपने आप तय किया जा सकता है। इसके लिये हमेशा गुरु की सहायता आवश्यक होती है।

गुरु से दीक्षा लेकर उसके हुक्म के अनुसार कमाई करता हुआ जिज्ञासु काग से हंस बन जाता है:

अंम्रित सर सतगुरु सतिवादी जित नातै* कऊआ हंस होहै॥⁷⁶

हंस का परमहंस की गति में पहुँचना अलग बात है। गुरु से नाम की दात प्राप्त करके दूसरों को नाम की दात बख़्शनेवाला परमहंस कोई विरला ही हो पाता है:

कागहुं हंसु सुवंसु होइ हंसहुं परम हंसु विरलोई।⁷⁷

* नहाने पर।

गुरु कैसे रीझता है?

गुरु अमरदास जी महाराज कहते हैं, तन मन धन सभ सउप गुरु कउ हुकम मंनिऐ पाईऐ॥⁷⁸ अगर परमेश्वर से मिलने की इच्छा हो तो जिज्ञासु को चाहिये कि अपने प्राण, अपनी संपत्ति और मन-बुद्धि को उस परमेश्वर के सगुण स्वरूप सतगुरु की मिलिक्यत समझे और फिर पल-पल उनके हुक्म में रहे। भाई गुरुदास के इसी भाव से मिलते-जुलते निम्नलिखित वचनों पर विचार करें:

जैसे फल फूलहि लैजाय बनराय प्रति,

करै अभिमान कहो कैसे बनिआवै जी।

जैसे मुकताहल समुद्रहि दिखावै जाय,

बार बार ही सराहै सोभा तौ न पावै जी।

जैसे कणी कंचन सुमेर सम्मुख राख,

मन में गर्व करै बावरो कहावै जी।

तैसे ज्ञान ध्यान ठान प्राण दै रीझाय चाहै,

प्राणपति सतगुरु कैसे कै रीझावै जी॥⁷⁹

जिस प्रकार कोई सुंदर फूल या मीठे रसीले फल टोकरी में डाले और उन्हें वनस्पति के राजा को बड़े रोब से भेंट करके कहे कि देख, तेरे लिये कितना बढ़िया उपहार लाया हूँ, तो यह अकड़ व्यर्थ ही मानी जायेगी; या अगर कोई चुने हुए मोतियों की माला पिरोकर मोतियों के भंडार समुद्र को दिखाये और अपनी इस संपत्ति की सुंदरता की सराहना करे तो यह उसके लिये कोई शोभा की बात नहीं होगी; या अगर कोई कहीं से सोने का मामूली कण मिलने पर उसे सुमेरु पर्वत के पास ले जाये, जो कि सोने का ही बना हुआ माना गया है और इस प्रकार गर्व करे मानों ऐसी वस्तु पहले किसी ने देखी ही न हो, तो इस पर लोग उसे पागल न कहेंगे तो और क्या कहेंगे? इसी प्रकार कोई अभ्यासी ज्ञान प्राप्त कर ले, ध्यान का अभ्यासी हो जाये, अपने प्राण सतगुरु को अर्पण कर दे और फिर सोचे

कि इनके द्वारा मैं उसको प्रसन्न करने में सफल हो गया हूँ, तो उसकी यह धारणा मूर्खता का ही प्रमाण होगी, क्योंकि उसका ज्ञान, ध्यान, प्राण सब कुछ तो सतगुरु ने ही उसे दिया है और उसी की दात उसे लौटाकर शिष्य ने कौन-सा बड़ा काम कर लिया? अर्थात् सतगुरु का रीझना उसकी दया पर निर्भर करता है, शिष्य के उद्यम या प्रयत्न पर नहीं। उनका तो केवल यह कहना ही शोभा देता है:

कबीर मेरा मुझ मह किछ नही जो किछ है सो तेरा॥
तेरा तुझ कउ सउपते किया लागै मेरा॥⁸⁰

गुरु शिष्य को बुलाता है

हम देख चुके हैं कि प्रभुप्राप्ति का प्रयत्न तब तक सफल नहीं होता, जब तक हमें सतगुरु की शरण और सहायता सुलभ न हो। इसलिये किसी भी जिज्ञासु के लिये गुरु धारण करना उसे मंज़िल की ओर ले जानेवाला पहला क़दम होता है। पर यहाँ यह भी समझ लेना अति आवश्यक है कि पूरा गुरु शिष्य द्वारा तलाश करने से नहीं मिलता और न ही शिष्य द्वारा केवल इच्छा प्रकट करने से वह उसका गुरु बन जाता है। वह स्वयं ही प्रसन्न होकर शिष्य को अपनी संगति में लाता है, उसे दीक्षा देता है और फिर, जिस प्रकार बच्चे को उँगली पकड़कर लिखना सिखाया जाता है, उसी प्रकार वह शिष्य के हृदय में बसकर उससे उचित साधना कराता है। क़दम-क़दम पर उसकी सहायता के बिना शिष्य के लिये इस कठिन मार्ग पर आगे बढ़ना कभी संभव नहीं होता:

सतगुरु सिक्ख रिदै, प्रथम कृपा कै बसै,
तां पाछै करत आज्ञा मया कै मनावई।⁸¹

अंतिम समय गुरु का सहारा

एक प्रचलित कहावत है, 'नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज़ को चली'। इसका आशय यह है कि अनेक कुकर्मों के बाद की गई भलाई कैसे

बेड़ा पार करेगी? पर यह धारणा सही नहीं मानी जा सकती। सुधरना तो अच्छा ही है, इसकी प्रेरणा चाहे कितनी भी देर से मिले। इस प्रसंग में भाई गुरुदास कहते हैं:

जैसे नाउ बूडत से जोई बचै सोई भलो,
बूड गए पाछै पछुतायो रहि जात है।
जैसे घर लागै आग जोई बचै सोई भलो,
जर बुझै पाछै कछु बस न बसात है॥
जैसे चोर लागै जागै जोई रहै सोई भलो,
सोय गए रीतो घर देखै उठ प्रात है।
तैसे अंत काल गुरु चरन सरन आवै,
पावै मोख पदवी नतर* बिललात है†॥⁸²

अगर नाव डूब रही हो तो उसमें से जो कुछ भी निकाल लिया जाये अच्छा है, नहीं तो सब कुछ गँवा देने पर तो केवल पछताना ही रह जायेगा। घर को आग लग जाये तो सब कुछ जलकर राख नहीं होने दिया जाता, लपटों पर क़ाबू पाकर हानि की मात्रा जितनी भी कम की जा सके, कम करने की कोशिश की जाती है। अगर किसी को चोर लूटने आ जायें तो जागकर शोर मचाना अच्छा है, अगर नींद का मज़ा ही लेते रहें, तो प्रातःकाल होने पर सब कुछ साफ़ हुआ ही दिखाई देगा। इसी प्रकार अगर कोई अपना जीवन सांसारिक धंधों में बिताकर अंतिम समय भी सतगुरु की शरण में आ जाये तो वह उस बख़्शानहार की दया के कारण मोक्ष की आशा रख सकता है। पर इसके विपरीत, साकत पुरुषों के लिये तो रोने और चिल्लाने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता।

* नहीं तो।

† रोता है।

गुरु का उपदेश

गुरु के दिये उपदेश यानी दीक्षा की बड़ाई यह है कि उसकी कृपा से शिष्य के आंतरिक अनुभव का द्वार खुल जाता है और प्रभु के प्रति उसकी प्रीति पक्की हो जाती है। फिर जब वह अपनी वृत्ति को एकाग्र करके शब्द धुन में जोड़ता है तो उसका रोम-रोम अपने प्रियतम के अनुराग में भीग जाता है और उसके श्वास, जो अब तक कच्चे धागे की तरह टूटकर गिर जाते थे, अमूल्य रत्नों की एक माला बन जाते हैं:

गुर उपदेसु अवेसु करि अनभै पिरम पिरी अनुरागे।
सबद सुरति लिव साधसंगि अंगि अंगि इक रंगि समागे।
रतन माल करि कचे धागे॥⁸³

जिस व्यक्ति को गुरु से दीक्षित होने का अवसर नहीं मिलता, वह तो संसार से उसी प्रकार पल्ला झाड़कर खाली चला जाता है जिस प्रकार समुद्र में से मोती के बिना खाली सीप निकलती है:

संख समुंदहु सखणा गुरमति हीणा देह विगाड़ी।⁸⁴

जब संत-सतगुरु परोपकार के लिये सचखंड को छोड़कर संसार में आ बिराजते हैं, तब संसार के अभागे जीव उनकी संगति और उपदेश का लाभ नहीं उठाते; बाद में जब वे ज्योति-ज्योत समा जाते हैं, तब वे पश्चात्ताप करते हैं कि हाय, हमने बड़ा ही दुर्लभ अवसर हाथ से गँवा दिया:

जैसे दीप दिपत महात्मै न जानै कोऊ,
बूझत ही अन्धकार भटकत रात है।
जैसे द्रुम* आंगन अच्छित महमा न जानै,
कटत ही छांहि बैठिबे को बिललात है।

* पेड़।

जैसे राजनीति विषय चैन होय चतुर कुण्ट,
छत्र ढाला चाल भये जत्र कत्र जात है।
तैसे गुरुसिख साधु संगम जुगति जग,
अन्तरिक्ष भये पाछे लोग पछुतात है॥⁸⁵

जब तक दीपक जलता रहता है उसके प्रकाश का सुख प्राप्त करते हुए कोई भी उसकी उपस्थिति की ओर ध्यान नहीं देता। पर जब वह बुझ जाता है तो रात के अँधेरे में भटकना पड़ता है। जब तक पेड़ आँगन में खड़ा है, तब तक कोई उसकी क्रद्र नहीं करता, पर उसके काट दिये जाने के बाद घरवाले उसकी छाया से वंचित होकर कष्ट पाते हैं और उन्हें उसका अभाव खलता है। राज्य का कारोबार मर्यादा के अनुसार ठीक प्रकार चलता रहे तो हर ओर शांति बनी रहती है, गड़बड़ हो जाने पर प्रजा को सिर छिपाने को स्थान नहीं मिलता। इसी प्रकार सतगुरु की संगति और उनका उपदेश सुलभ होने पर भी संसार के लोगों को गुरु से प्रभु के मिलाप की युक्ति सीखने का खयाल नहीं आता, पर जब वे सचखंड चले जाते हैं तो केवल हाथ मलना और पछताना ही उनके पल्ले रह जाता है।

पत्नी और बेटे-बेटियों का प्यार, ज़मीन-जायदाद और धन-दौलत की कामना, विभिन्न इंद्रियों के रस भोगने की हवस, मान-बड़ाई, हुकूमत या अधिकार की लालसा, यह सब माया का मोह है, और जब तक इस मोह का नागपाश नहीं टूटता, तब तक आत्मा को सुख की साँस नहीं आती। यह एक ऐसी कष्टदायक और लंबी कैद है जिसकी अवधि प्रलय के समय भी समाप्त नहीं होती। इस संदर्भ में भाई साहिब का निम्नलिखित सवैया विचार करने योग्य है:

कंचन अशुद्ध जैसे भ्रमत कुठारी विषय,
शुद्ध भये भ्रमत न, पावक* प्रगास है।

* अग्नि।

जैसे कर कंकणि अनेक से प्रगट धुनि,
 एकै एक टेक पुनः धुनि को बिनास है॥
 खुध्या* कै बालक बिललात अकुलात अति,
 अस्थन पान कर सहज निवास है।
 तैसे माया भ्रमत चतुर कुण्ट धावै,
 गुरु उपदेस निःचल गृह पद बास है॥⁸⁶

जब तक सोना मैल से मुक्त नहीं होता, वह कुठाली में पिघलकर इधर-उधर चक्कर काटता रहता है। पर एक बार यदि वह शुद्ध हो जाये तो उसका भटकना खत्म हो जाता है और उसका तेज उसी आग का मुकाबला करने लगता है जिसमें उसे गर्म किया गया था। यदि कलाई पर कई चूड़ियाँ पहनी हों तो वे आपस में टकराकर व्यर्थ ही शोर पैदा करती रहती हैं, पर अगर चूड़ी एक ही हो तो इस शोर से छुटकारा हो जाता है। जब तक बच्चे को भूख सताती रहती है वह रोना-चिल्लाना बंद नहीं करता, पर माता का दूध मिल जाने पर वह तृप्त होकर सो जाता है। इसी प्रकार जब तक जीव माया के चंगुल में फँसा रहता है, वह चारों खानियों की चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटता रहता है। परंतु अगर सौभाग्य से गुरुदीक्षा प्राप्त हो जाये, तो वह एक दिन निज घर के स्थायी आनंद का अधिकारी बन जाता है।

संयोग से सतगुरु कहीं पास से गुज़र जायें या बैठे दिखाई दे जायें तो सब कहने लगते हैं कि 'मैंने उनके दर्शन कर लिये'। परंतु जिस दृष्टि से उन्हें देखकर उनके स्वरूप में समाया जा सकता है, उससे तो वे बिल्कुल बेखबर होते हैं।

इसी प्रकार गुरु के वचन एक कान से सुनें और दूसरे कान द्वारा बाहर निकाल दें और दिल खुश कर लें कि हम सत्संग सुनकर आये हैं, तो इस प्रकार से सत्संग सुनने का भला क्या लाभ? ऐसे श्रोताओं को बिल्कुल

* भूख के कारण।

एहसास नहीं होता कि गुरु के उपदेश द्वारा सुझाया गया अनहद शब्द यदि सुरत के द्वारा सुना जाये, तभी मन का भटकना सदा के लिये समाप्त होता है।

गुरुमंत्र अमूल्य वस्तु है, उसका जाप करने से कोई भी फल प्राप्त किया जा सकता है। उसकी जितनी महिमा की जाये, थोड़ी है। ज़बान से हर कोई उसकी बड़ाई करता है, पर जिस गुरुमंत्र का लोग ज़िक्र करते हैं उसका अभ्यास किस युक्ति से किया जाये कि आत्मा की लिव परमात्मा से लगे, इसका लोगों को रती भर भी पता नहीं होता, क्योंकि उनके पास सच्चे अर्थों में दर्शन करनेवाली दृष्टि ही नहीं है, न वे एकाग्र होकर आंतरिक श्रवण शक्ति द्वारा शब्द को सुनने का तरीका जानते हैं और न ही उन्हें घट-घट वासी ज्योति-स्वरूप परमात्मा से लिव जोड़ने की विधि का ज्ञान है।

भाई गुरुदास कहते हैं कि इस प्रकार सभी तरह से अपूर्ण मति वाले इन जीवों को पतित-पावन सतगुरु स्वयं ही यदि मार्ग पर लायें तो वे मार्ग पर आयेंगे, अन्यथा नहीं:

दर्शन देखयो देखयो सकल संसार कहै,
 कवन दृष्टि सों मन दर्स समाईऐ॥
 गुरु उपदेश सुनयो सुनयो सब कोऊ कहै,
 कवन सुरति सुनि अनत* न धाईऐ।
 जय जय कार जपत जगत् गुर मन्त्र जीह,
 कवन जुगति जोती जोति लिव लाईऐ॥
 दृष्टि सुरति ज्ञान ध्यान सर्वग† हीन,
 पतित पावन गुरु मूढ़ समझाईऐ॥⁸⁷

काल का बनाया मायाजाल ही कुछ ऐसा है कि हर बुरे कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वाद मिलता है। जिस प्रकार पहली या दूसरी बार जुआ

* और कहीं।

† सभी अंग।

खेलने से बिना मेहनत किये धन मिल जाये, तो बाद में मन कहेगा कि दोबारा क्यों न उसी युक्ति से धन बटोरा जाये। एक बार शराब पीने से घड़ी दो घड़ी के लिये नशे का अनुभव हुआ, तो जब किसी अन्य अवसर पर बोतल दिखाई पड़ेगी, मन उसी प्रकार की मदहोशी के लिये व्याकुल हो जायेगा। वही कर्म बार-बार दोहराने से उसकी आदत पड़ जाती है और उसके अनुकूल स्वभाव बन जाता है। जिस प्रकार मूल में ब्याज को जोड़ते रहने से मूल बढ़ता जाता है, इसी प्रकार नये कर्मों के जुड़ते रहने से संचित कर्मों की तख्ती भी काली होती जाती है। फलस्वरूप यमदूतों के दंड सहन करने पड़ते हैं, नरकों में जलना पड़ता है। यदि कभी बचाव संभव है तो केवल गुरु के चरण पकड़कर, उनसे उपदेश लेकर ही हो सकता है:

बढ़त बिआज काज गनत अवध बीती,
गुरु उपदेस बिनु जमपुरि जात है॥⁸⁸

गुरु का दर्शन

जब तक रात का अंधकार समाप्त नहीं होता, तब तक प्रत्येक घर, सारा गाँव, पूरा शहर मानों निष्प्राण बना रहता है, उसका जीवन लकवे से ग्रस्त-सा प्रतीत होता है। सूर्य के उदय होते ही सब लोग स्नान करके, हाथ-मुँह धोकर, सज-धजकर बाहर निकल आते हैं और गलियों, सड़कों, खेतों, बाजारों में जगह-जगह रौनक आ जाती है। इसी प्रकार जब तक जीव का सतगुरु से मिलाप नहीं होता जीवात्मा के भाग्य को मानों ग्रहण लगा रहता है और उसके बहुमूल्य श्वास बेकार चले जाते हैं। पर जब एक बार उस महापुरुष के दर्शन हो जाते हैं, तो समझो कि संकट समाप्त हो गया है तथा भाग्यशाली समय आ गया है:

जब ते दरसन भेटे साधू भले दिनस ओए आए॥⁸⁹

अगर प्रकाश न हो तो अनजान ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर ठोकरें खाये बिना चार क़दम भी नहीं चला जा सकता। गुरु के दर्शन से वंचित व्यक्ति

दुविधा और द्वैत के चंगुल में ग्रस्त, अंधड़ के वश में पड़े फूस के तिनके की तरह इधर-उधर उड़ता रहता है, उसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता, वह कहीं पैर नहीं जमा पाता। भाई गुरदास ने कहा है:

बिन गुर दरसणु देखणा भ्रमता फिरे ठउर नहीं पाए।⁹⁰

कभी कुत्ता, कभी सूअर, कभी कनखजूरा और कभी गिद्ध बनकर कौन-कौन-सी गंदगी से उसे नहीं गुज़रना पड़ता और किस-किस तरह के चौरासी के कीचड़, नालियों और हड्डियों के ढेर में उसे खुराक की तलाश नहीं करनी पड़ती:

बिनु दरसनु गुरु मूरतों भ्रमत फिरे लख जून चउरासी।⁹¹

इसलिये जब कोई जिज्ञासु सतगुरु का दर्शन करता है तो वह निःसंदेह परमात्मा का ही दर्शन कर रहा होता है:

सतिगुरु दरसनु देखदो परमातमु देखै।⁹²

गुरु का दर्शन करने के बाद जब उसका स्वरूप ध्यान में आता है, तो वह परमेश्वर का सगुण रूप होता है और जब गुरु द्वारा दीक्षा के समय दिये गये शब्द का अनुभव होता है, तो उसे निर्गुण परमेश्वर का रूप समझ लेना चाहिये। दूसरे शब्दों में गुरु का देह-स्वरूप प्रभु का सगुण रूप तथा गुरु का शब्द-स्वरूप प्रभु का निर्गुण रूप होता है:

दरस धिआन गुरु सबद गिआन गुरु,
निरगुन सरगुन ब्रह्म बीचार है।⁹³

जो गुरुमुख शिष्य गुरु की शरण में आ जाता है उसका जन्म सार्थक हो जाता है। इसलिये सतगुरु के दर्शन को सफल दर्शन कहा जाता है:

गुरुमुखि जनम सकारथा गुर सिख मिलि गुरसरणी आइआ।
आदि पुरख आदेसु करि सफल मूरति गुर दरसनु पाइआ।⁹⁴

वे आँखें सौभाग्यशाली हैं जो सतगुरु का दर्शन करती हैं, उसके स्वरूप के ध्यान में जुट जाती हैं:

अखी दुइ निरमोलका सतिगुरु दरस धिआन लिव लाए।⁹⁵

सतगुरु के सम्मुख होने के लाभ का क्या हिसाब? जब उसमें लिव जोड़कर शब्द का अभ्यास किया जाता है, तो अंतर में सतगुरु के नूरी स्वरूप का दर्शन होता है और उस स्वरूप के परमेश्वर से अभेद होने के बारे में किसी भी शंका की गुंजाइश नहीं रह जाती:

सबद सुरति लिवलीण होइ अंतरि गति लेखै*।⁹⁶

और फिर दर्शन के बाद?

दरसनु देखि पतंग जिउ जोती जोति समावै।⁹⁷

“(सतगुरु के) प्रकाश रूप का दर्शन करके पतंगे की तरह शिष्य उसके दर्शन की ज्योति में समा जाता है अर्थात् ध्यान करके तदाकार हो जाता है।”

सतगुरु का दर्शन पूर्ण एकाग्रता तथा भाव के साथ करना चाहिये, क्योंकि जब वे शिष्य की ओर मुड़कर कृपादृष्टि डालते हैं तो उसे निहाल कर देते हैं:

गुरमुखि नदरि निहाल नेह निहालीऐ।⁹⁸

सतगुरु के दर्शन और उनके स्वरूप का ध्यान करने से एक ओर तो शिष्य की दृष्टि में दिव्य प्रकाश आ जाता है तथा दूसरी ओर सतगुरु की दयापूर्ण दृष्टि पड़ने से उसकी देह अर्थात् उसका जन्म सफल हो जाता है:

* देख लेता है।

दरस धिआन दिब्ब दृसटि प्रगास भई,
करुणा कटाच्छ* दिब्ब देहि परवान है॥⁹⁹

जो व्यक्ति साधु की संगति और सतगुरु के दर्शन नहीं करता उसे अंधा समझो, वह पाँच तत्त्वों के मलबे का ढेर है:

सतिगुरु दरसनु देखणा साध संगति विणु अन्हां† खोला।¹⁰⁰

शारीरिक तौर पर शिष्य सतगुरु के दर्शन करता है, दूसरी ओर सतगुरु उस पर दृष्टि डालता है, अंतर में शिष्य की लिव अपने शब्द रूप सतगुरु पर केंद्रित हो जाती है और इस प्रकार एक आश्चर्यजनक संयोग बन जाता है:

दरसन द्रिसटि संजोग लख सबद सुरति लिव लख हैरणै।¹⁰¹

अगर कोई जिज्ञासु सतगुरु का दर्शन करे, उनके स्वरूप का ध्यान करे और इस ध्यान के दौरान सतगुरु के नूरी स्वरूप का दीदार कर ले, तो फिर उसे छः शास्त्रों जैसे किसी माध्यम से कोई ज्ञान ढूँढ़ने की ज़रूरत नहीं रहती। उसे टीकाओं के अध्ययन और खोज की परेशानियों में पड़कर समय नष्ट करने की ज़रूरत नहीं पड़ती:

सतगुरु दरस धिआन असचरज मय,
दरसनी होत खट दरस अतीत है।¹⁰²

गुरु की शारीरिक निकटता का लोभ

यह समझना कि शारीरिक तौर से सतगुरु के बहुत निकट रहे बिना कोई विशेष आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती, ऐसी सोच सही नहीं है। क्योंकि एक तो उसकी निकटता केवल कुछ ही व्यक्तियों को नसीब हो सकती है और

* मेहरभरी दृष्टि।

† अंधा।

अगर किसी को ऐसा अवसर मिल भी जाये तो मनुष्य की मति अधूरी होने के कारण सतगुरु के प्रति अभाव पैदा होने का खतरा बना रहता है।

भाई गुरदास समझाते हैं, यदि हंस समुद्र के किनारे बैठते हैं तो मोती चुग लेते हैं; पर यदि कोई भूलकर समुद्र में कूद पड़े तो न उसे अपनी खुराक मिलेगी और न ही वह दूसरे किनारे पर पहुँच सकेगा, बल्कि लहरों में ही डूब मरेगा। जलती आग से थोड़ी दूर खड़े होने पर उसकी गर्मी का सुख पाया जा सकता है, पर यदि अंगारों पर जा बैठें, तो जलकर मरने की संभावना हो जायेगी। जो कोई अपने अंतर में जल रहे शब्द के दीपक की जोत में ध्यान जोड़ता है उसका रूहानी सफ़र खुशी-खुशी कटता चला जाता है, पर अगर वह बाहर के दीपक को हाथ में लेकर चलना चाहे तो वह मन-माया द्वारा फैलाये भ्रम में ही पड़ा रह जाता है, उसकी यात्रा सफल नहीं हो सकती। यदि गुरु की शिक्षा के अनुसार प्रेमपूर्वक उसके शब्द का अभ्यास करेंगे तो सचखंड पहुँच जायेंगे, क्योंकि सतगुरु का असली स्वरूप 'शब्द' होता है। इसके विपरीत, देह-स्वरूप में अनुचित सीमा तक उनकी शारीरिक निकटता प्राप्त करने के लोभ के शिकार हुए जीव के अंदर क्या पता कब कोई गलतफ़हमी पैदा हो जाये, वह अपनी श्रद्धा गँवा बैठे और इस प्रकार अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मार ले:

जैसे दीप जोति लिव लागै चले जात सुख,
गहे कर दुचितु ह्वै भटका सो भेट है॥
जैसे दधि* कूल† बैठि मुकता चुनत हंस,
पैरत‡ न पावै पार लहर लपेट है॥
जैसे निरखि अगनि कै मधि भाव सिध होत,
निकटि बिकट§ दुख सहसा न मेटि है॥

* समुद्र।

† किनारे।

‡ तैरना।

§ सख्त।

तैसे गुर सबद सनेह कै परम पद,
मूरति समीप सिंघ साप की अखेट* है॥¹⁰³

गुरुमुखों के मार्ग पर चलनेवाला साधक अपनी दोनों आँखों के पीछे भृकुटियों के मध्य में गुरु के स्वरूप में ध्यान जोड़कर रखता है। इसके फलस्वरूप उसे अपने आप की पहचान हो जाती है और अंत में वह सहज पद में पहुँच जाता है:

गुरुमुख पन्थ गुरु ध्यान सावधान रहै,
लहै निज-घरु अरु सहज निवास जी॥¹⁰⁴

जब कोई विशेष घटना हमें याद आती है तो उसका पूरा दृश्य हमारे मन की आँखों के आगे आ जाता है। उसी प्रकार किसी खास व्यक्ति की याद आने पर उसका प्रतिरूप या चित्र हमारे सामने आ जाता है। ऐसे दृश्य या चित्र के बिना याद आने की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। हमारी मानसिक शक्तियाँ कुछ इसी प्रकार कार्य करती हैं।

संत-सतगुरु हमें बताते हुए नहीं थकते कि जन्म-मरण के चक्र से बचने का एकमात्र उपाय प्रभु को याद करना है और उसकी याद तब तक अधूरी रह जाती है, जब तक प्रभु का स्वरूप भी उसका नाम लेते समय अभ्यासी के सम्मुख प्रकट न हो जाये। पर प्रभु दिखाई नहीं देता, न कभी ज़बान से बोलता है और न कभी उसकी आवाज़ सुनाई देती है। फिर उसके स्वरूप का ध्यान कैसे किया जाये? यह समस्या सचमुच बड़ी गंभीर है, पर इसका हल निकालने का एक सुंदर तरीका है। जैसा कि गुरु अर्जुन देव जी समझाते हैं कि अगर गुरु का ध्यान कर लिया जाये तो अपने आप ही प्रभु का ध्यान हो जाता है, क्योंकि गुरु परमेश्वर ही तो होता है:

गुर गोबिंद गोपाल गुर गुर पूरन नाराइणह॥¹⁰⁵

* शिकार।

और फिर

गुर मूरत सिउ लाए धिआन॥ ईहा ऊहा पावह मान॥¹⁰⁶

अगर गुरु के स्वरूप का ध्यान किया जाये तो लोक और परलोक दोनों में शोभा प्राप्त होती है:

जो चित लाए पूजे गुर मूरत सो मन इछे फल पावै॥¹⁰⁷

जो कोई निर्विकल्प होकर गुरु के स्वरूप की आराधना करता है, उसकी सभी कामनाएँ फलीभूत हो जाती हैं।

उक्त विचार की दोनों कड़ियों को भाई गुरदास निम्नलिखित एक ही कड़ी में समेट देते हैं:

सतिगुरु सति सरूपु है धिआन मूलु गुर मूरति जाणै॥¹⁰⁸

सतगुरु परमेश्वर का ही रूप है, इसलिये जब परमेश्वर को याद करने के लिये बैठें तो सतगुरु के स्वरूप पर ध्यान टिकायें। गुरु का ध्यान ही प्रभु का ध्यान है। एक रोज़मर्रा के उदाहरण से गुरु साहिब और भाई गुरदास का विचार बहुत सरल ढंग से समझ में आ जायेगा। हम रेडियो की सहायता से किसी संगीतकार का कोई कार्यक्रम सुनते हों तो उसका आनंद केवल कानों से ही लेते हैं। इसके विपरीत, वही कार्यक्रम यदि दूरदर्शन पर आ रहा हो तो आवाज़ के अलावा हमें गायक का चेहरा और हावभाव भी आँखों से देखने को मिलते हैं और इस प्रकार हमारे मनोरंजन में चार चाँद लग जाते हैं। यहाँ प्रश्न केवल स्वाद के कम या अधिक होने का है, पर नाम के अभ्यास में सफलता तभी मिलती है जब जिज्ञासु की एकाग्रता पूर्ण हो। आपने आतिशी शीशा* देखा होगा, उस शीशे के बीच का मोटा भाग नीचे रखकर उसे सूर्य के सामने करें तो थोड़ा-सा ऊपर-नीचे ले जाने पर उसमें आकाश की ओर से प्रवेश करनेवाली सूर्य की किरणें

* बड़ा आकार दिखानेवाला शीशा।

निचली तरफ़ एक इकहरी किरण के रूप में इकट्ठी गिरने लगती हैं और फिर जो भी वस्तु उसके सामने आ जाये, तुरंत जलने लगती है। जितनी तपन या गर्मी बीघा भर, एकड़ भर क्षेत्र में गिरती करोड़ों किरणों से पैदा नहीं होती, वह साधारण रुपये के आकार के शीशे में से निकल आती है। केवल थोड़ी-सी किरणों के एक बिंदु पर केंद्रित हो जाने के कारण ही ऐसा होता है। ध्यान का ऐसा केंद्रीकरण तभी संभव होता है जब सिमरन कर रहे जिज्ञासु की सुरत को भटकने से रोककर रखने के लिये उसके सामने उसके इष्ट का स्वरूप हो और वह स्वरूप सगुण प्रभु अर्थात् सतगुरु का ही हो सकता है।

इस सत्य को भाई साहिब ने एक अन्य पौड़ी में इस प्रकार प्रकट किया है:

धिआनु मूलु गुर दरसनो पूरन ब्रह्मु जाणि जाणोई॥¹⁰⁹

प्रभु का ध्यान सतगुरु के दर्शन पर आधारित होता है, क्योंकि सतगुरु स्वयं पूर्ण ब्रह्म होते हैं। यही बात आपने अपने कबित्त-सवैयाओं में दोहरायी है:

सरगुन श्री गुरु दरस कै धिआन रूप,
अकल अकाल गुर सिक्खन दिखाए हैं॥¹¹⁰

यदि सतगुरु के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ तो ध्यान करना बहुत कठिन है:

बिनु गुर दीखिआ ज्ञान बिन दर्स ध्यान,
भाउ बिन भगति न कथनी भय भीन है॥¹¹¹

भाग्यशाली हैं वे नेत्र जिनके द्वारा दर्शन किया जाता है और धन्य है वह दृष्टि जो साधक को ध्यान धरने के योग्य बनाती है:

सतिगुर दरसन धनु है धन दिसटि गुर धिआनु धराइआ॥¹¹²

गुरु की मूर्त हृदय में अंकित कर लेने से प्रभु की भाव (प्रेम) और भय सहित भक्ति प्राप्त हो जाती है और उसके प्रेम का अमृतमय रस मिलता है:

भाइ भगति भउ पिरम रस सतिगुरु मूरति रिदे वसाई।¹¹³

गुरुरूपी वैद्य

यदि किसी को तपेदिक का रोग हो तो उसे खाँसी साँस नहीं लेने देती। ठीक इसी तरह यदि कोई प्राणी हौमैं अर्थात् अहं के रोग से छुटकारा न पा ले तो उसके जन्म-मरण का चक्र समाप्त नहीं हो सकता, उसका प्रभु में समाना संभव नहीं हो सकता। गुरु अर्जुन साहिब हौमैं का वर्णन 'महा दीरघ रोग' कहकर करते हैं, अहंबुध बहु सघन माइआ महा दीरघ रोग॥¹¹⁴ - इसका इलाज एक ही वैद्य कर सकता है और वह है प्रभुरूपी सतगुरु, यदि वह दयाल हो जाये:

पूरब ब्रह्म गुरु, पूरन कृपा जौ करै,
हरे हौमैं रोग, रिदै निम्रता निवास है।¹¹⁵

वह इस हौमैं के रोग को मिटाकर शिष्य के हृदय को नम्रता से भरपूर कर देता है।

यह आत्मा परमात्मा से बिछुड़ा हुआ अंश है जिस प्रकार बुलबुले में घिरी हुई संपूर्ण वायुमंडल की थोड़ी-सी हवा। वह बुलबुले की शक्ति में पृथक्ता का आभास देती है। इस पृथक्ता का कारण है पानी की एक बारीक गुंभद जैसी दिखाई देती झिल्ली। आत्मा के लिये हौमैं का गुबार भी वैसा ही है, हउमै वडा गुबारु है हउमै विच बुझ न सकै कोए॥¹¹⁶ जब कर्तापुरुष प्रभु ने आत्माओं को अपने मूल से अलग करके उनके और अपने बीच इस अहं की दीवार को खड़ा किया, तभी वे स्वतंत्र इकाइयों के तौर पर क्रियाशील हो सकीं, हउमै बिख पाए जगत उपाइआ ...॥¹¹⁷

अगर इस दीवार को गिराना हो तो उस प्रभु द्वारा बनाये गये एक हथियार का प्रयोग करना पड़ता है। वह हथियार है शब्द, जो सतगुरु से प्राप्त किया जाता है:

होई आगिआ आदि आदि निरंजनो।
नादै मिलिआ नादु हउमै भंजनो।¹¹⁸

जब सतगुरु से मिले शब्द का अभ्यास किया तो हौमैं समाप्त हो गई, और आत्मा उस मूल शब्द में जा मिली जो स्वयं परमेश्वर है। यह सब कुछ आदि पुरुष के हुक्म से ही होता है।

सतपुरुष गुरु के माध्यम से कार्य करता है और हौमैं जैसे भ्रमों का निवारण, गुरु की कृपा की बदौलत और उसकी दी हुई शिक्षा पर चलने से ही होता है:

गुरमति गुरप्रसादि भरमु निखंजनो।¹¹⁹

जब कोई प्राणी सतगुरु की संगति में आता है तो उसमें परिवर्तन आ जाता है। वह धर्म की दृष्टि से चाहे हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि हो और जाति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो, पर गुरु के संपर्क में आने से सब अपने विभिन्न भेदों को मिटाकर, उसके एक समान यानी भेदभाव से रहित शिष्य बन जाते हैं। यह उसी प्रकार का परिवर्तन होता है जिस प्रकार पान, सुपारी, चूना, कत्था आदि के अलग-अलग रंग, गिलौरी के रूप में इकट्ठे होकर, लाल रंग के बन जाते हैं। एक ही प्रभु के जीवों को कृत्रिम ढंग से अलग-अलग बाँटकर पृथक्ता की जो झूठी दीवारें खड़ी की गई थीं, उन्हें तोड़कर एक समान बना देना सतगुरु की एक प्रत्यक्ष करामात होती है:

चार वरन सतिसंगु गुरुमुखि मेलिआ।

जाण तंबोलहु रंगु गुरुमुखि चेलिआ।¹²⁰

गुरु: परख से परे

सतगुरु का शिष्य उनके बारे में नुक्ताचीनी नहीं करता। उनके किये हुए कार्यों के उचित या अनुचित होने का निर्णय देने की बात सोच तक नहीं सकता, क्योंकि सतगुरु अपनी मौज में जो कुछ करता है, वह शिष्य की सूझ-बूझ से बहुत परे होता है। शिष्य की विवेकहीन बुद्धि उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकती। शिष्य क्या जाने कि गुरु के कार्य के पीछे क्या उद्देश्य छिपा है और उसका फल क्या होगा। शिष्य द्वारा गुरु के कार्यों के गुण-दोष परखने का प्रयास उसी प्रकार होगा जिस प्रकार करील के पौधे का, यह न जानते हुए कि वह पत्ते पैदा करने के लिये बनाया ही नहीं गया है, अपने पत्रहीन रह जाने के लिये बसंत ऋतु को दोषी मानने लगना या बंजर धरती का फसल उत्पन्न न कर सकने के लिये बादल के बरसाये पानी को ज़िम्मेदार ठहराना। शिष्य को पता होना चाहिये कि अच्छे लोगों के मिलाप से साधारण लोगों का भी भला हो जाता है और गुणवानों के संपर्क से गुणहीन पुरुष भी बहुत कुछ प्राप्त कर लेते हैं, जैसे समुद्र में पड़ी रहनेवाली अनेक सीपों में मोतियों का जन्म हो जाता है। परंतु सतगुरु की परख करनेवाला, अर्थात् उनके कार्यों का लेखाजोखा या उनकी छानबीन करनेवाला शिष्य अपना जन्म व्यर्थ ही गँवा बैठता है:

अपतु करीरु* न मउलीऐ दे दोसु बसंतै।
 संढि सपुती न थीऐ कणतावै† कंतै।
 कलरि खेतु न जंमई घणहरु वरसंतै।
 पंगा‡ पिछै चंगिआ अवगुण गुणवंतै।
 साइरु विचि घंघूटिआं§ बहु रतन अनंतै।
 जनम गवाइ अकारथा गुरु गणत गणतै॥¹²¹

* पत्तों के बिना करील का पौधा।

† दोष देना।

‡ बुरे लोग।

§ सीपियाँ।

दोष निकालनेवाले शिष्य के दिन दुःख भोगते हुए ही व्यतीत होते हैं:

गणत गणै गुरुदेव दी तिसु दुखि विहावै॥¹²²

गुरु में विश्वास का फल

जिस किसी ने गुरु की शिक्षा में विश्वास कर लिया, उसका मन स्थिर हो जाता है और यह भी उसकी समझ में आ जाता है कि वह केवल मल-मूत्र धारण करनेवाला शरीर नहीं, बल्कि बहुत उत्तम है, ज्योति स्वरूप है। उसका अहं मिट जाता है और वह पारब्रह्म के देश में प्रवेश कर लेता है:

गुरुमति सत्य कर चंचल अचल भए,
 महा मल मूत्र धारी निरमल कीने हैं।¹²³

गुरुमति सत्य कर अधम असाधु साधु,
 गुरुमति सत्य कर जंतु संत नाम है।...
 गुरुमति सत्य कर अज्ञानी ब्रह्म ज्ञानी,
 गुरुमति सत्य कर सहज बिस्राम है।¹²⁴

गुरु की सेवा

हमारी ज़िंदगी में धरती का बड़ा परोपकारपूर्ण योगदान होता है। उसमें एक दाना फेंकते हैं तो वह उसकी सहायता से सौ दाने होकर फलता है। मिट्टी में एक गुठली दबाने पर आम का विशाल वृक्ष पैदा हो जाता है और वह वर्षों तक आमों के सैकड़ों फल देता रहता है। यही कारण है कि हमारे और धरती के रिश्ते की तुलना संतान और माता के संबंध से की जाती है, माता धरत महत॥¹²⁵ (जप जी) भाई गुरदास इस दृष्टि से धरती और सतगुरु की तुलना करते हुए लिखते हैं:

धरती बीजै सो लूणै सतिगुरु सेवा सभ फल चूरै*।¹²⁶

* प्राप्त।

हम धरती पर जितना मरजी हल चला लें, उसे सींच-गोड़ लें, उसमें से वही फ़सल पैदा होगी जो हम उसमें बोयेंगे, जबकि सतगुरु की सेवा करने से तरह-तरह के अनेक फल प्राप्त हो जाते हैं, धर्म से लेकर मोक्ष तक कोई भी प्यास बाक़ी नहीं रहती।

जो मेंढक कुएँ की अति तंग गोलाई में घूमता हुआ ही आयु बिता देता है, उसे क्या मालूम कि विशाल समुद्र में तैरनेवाले जीव किस प्रकार का आनंद प्राप्त करते हैं। सीप में मोती उत्पन्न करनेवाली स्वाति बूँद की क्रद्र शंख को भला कैसे हो सकती है जो स्वाति बूँद को मोती में बदल सकने की योग्यता से रहित होता है? रात के घने अंधकार में ही आँखें खोलनेवाला उल्लू सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश के महत्त्व को भला क्या जान सकता है? तोता सेमल वृक्ष से चाहे कितना ही प्यार क्यों न करे, उससे खाने के लिये भला उसे क्या मिल सकता है? हंसों की संगति की महिमा कौआ कभी नहीं जान पाता और न बंदर को किसी माणिक या हीरे के मोल का अनुमान होता है। यदि कोई मनुष्य गूँगा हो और साथ ही बहरा भी, तो उसे चाहे लाख सुमति देने का यत्न किया जाये, वह कोरे का कोरा ही रहेगा। इसी प्रकार जिन लोगों को गुरु की संगति और शरण का अवसर नहीं मिला और जो कहीं और ही भटकते रहे, वे नहीं समझ सकते कि वे कितनी महान प्रभुकृपा से वंचित रह गये हैं:

कूआ को मेंढक निधि जानै कहा सागर की,
स्वांति बूँद महिमा न संख जीय जानई।
दिनकर जोति को उदोत कहा जानै उल्लू,
सेंबल से कहा खाय सूआ हित ठानई।
बायस* न जानत मराल† माल संगति को,
मरकट‡ माणक हीरा न पहचानई॥

* कौआ।

† हंस।

‡ बंदर।

आन देव सेवक न जानै गुरु देव सेव,
गुंगे बहरे न कह सुन मन मानई॥¹²⁷

जब कोई कौड़ियों, रुपये-पैसों या सोने की मोहरों के स्तर तक का व्यापारी उस धंधे से ऊँचे उठकर रत्नों की परख तथा लेन-देन तक पहुँच जाता है, तो वह जौहरी मान लिया जाता है और सम्मानित होता है। इसके विपरीत, अगर कोई जौहरी कहलाने के बाद कौड़ियों का व्यापार करने पर उतर आये, तो सूझवान प्रतिष्ठित लोगों में उसकी साख गिर जाती है। इसी प्रकार जब कोई अधूरे इष्ट का उपासक पूरे गुरु की शरण में आ जाये, तो वह लोक और परलोक दोनों में ही उच्च पद का अधिकारी बन जाता है। पर यदि सच्चे सतगुरु का सत्संगी उससे विमुख होकर किसी अन्य इष्ट के पैर जा पकड़े, तो मानो उसने अपना मनुष्य-जन्म कौड़ियों के दाम गँवा लिया; वह स्वयं ही नहीं, उसका वंश भी कलंकित हो गया:

कौडा पैसा रुपया सुनैया* को वणज करै,
रतन पारखु हुइ जौहरी कहावई।
जौहरी कहाय पुनः कौडा को बणज करै,
पंच परवान मै पतिष्ठा† घटावई॥
आन देव सेव गुरु देव को सेवकु हुइ,
लोक प्रलोक बिषय ऊच पद पावई।
छाडि गुरुदेव सेव आन देव सेवक है,
निःफल जनम कपूत है हसावई॥¹²⁸

अगर हम बंजर धरती में बीज बोयें तो उसमें से अन्न तो क्या पैदा होगा, पशुओं के लिये चारा भी हाथ नहीं लगेगा; बीज व्यर्थ जायेगा और

* स्वर्ण-मुद्रा।

† आदर।

लगान का भुगतान अलग पल्ले से करना पड़ेगा। पानी को मथने में चाहे हम कितनी भी मेहनत करें, उससे घी प्राप्त नहीं होता, बल्कि मटके और मथानी से भी हाथ धोना पड़ता है। भूतों की पूजा करके उनसे पुत्र की बख्शिाश नहीं मिलती। यही बात पूर्ण गुरु के सिवाय किसी और को अपना इष्ट मानकर साधना करने की है। इसके फलस्वरूप इस संसार में दुःख भोगने पड़ते हैं और अगले लोक में भी यमों के दंड सहने पड़ते हैं:

बीज बोय कालर में निपजै न धान पान,
मूल खोय रोवै पुनः राज डण्ड लागई॥
सलिल बिलोय* जैसे निकसत नाहिं घृत,
मटुकी मथनीया हूँ फोरि तोरि भागई॥
भूतन पै पूत मांगै होत न सपूती कोऊ,
जीय को परत संसो, तिआगै हूँ न त्यागई॥
बिनु गुर देव सेव आन सेव दुखदायक है,
लोक प्रलोक सोक जाहिं अनुरागई॥¹²⁹

एक समय दो शीशों में मुँह देखने की कोशिश की जाये तो वह सफल नहीं होती, नदी के पार जाने के लिये दो अलग-अलग नावों में पैर रखे जायें तो डूबने की संभावना हो जाती है। अगर किसी व्यक्ति का एक हाथ एक दिशा की ओर खींचा जाये और दूसरा, दूसरी ओर, तो संभव है कि वह अपनी कोई हड्डी तुड़वा बैठे और अगर राही दोराहे पर पहुँचकर इस दुविधा का शिकार हो जाये कि इधर जाऊँ या उधर, तो कोई आश्चर्य नहीं कि वह ग़लत मार्ग पर चल पड़े। जिस नगरी पर दो अलग-अलग राजा अधिकार जमाने लगे, वहाँ के निवासी सुख की नींद नहीं सो सकेंगे, क्योंकि उनके सामने दो विरोधी आज्ञाओं के पालन करने का संकट पैदा हो जायेगा। इसी प्रकार जब गुरु का कोई शिष्य किसी अन्य पीर, फ़क़ीर

* मथने से।

का सहारा लेने लगता है तो उसे इस लोक में धिक्कार मिलता है और मरने के बाद भी यमदूत उसका पीछा नहीं छोड़ते:

दोइ दर्पन देखै एक से अनेक रूप,
दोइ नाव पाव धरै पहुंचै न पारि है।
दोइ दिशा गहे गहाए से हाथ पाव टूटे,
दुराहे दुचित होइ भूलि पगु धारि है।
दोइ भूप ताके गांव प्रजा न सुखी होत,
दोइ पुरुषन की न कुलबधू नारि है।
गुरुसिख ह्वै आन देव सेव टेव गहै,
सहै जम दण्ड धृग जीवन संसार है॥¹³⁰

आम तौर पर वृक्ष समय पाकर फल देते हैं और कई ऐसे वृक्ष भी होते हैं जो सब ऋतुओं में अति स्वादिष्ट फल देते रहते हैं। कुआँ पहले खुदाई और निर्माण के खर्च और मेहनत द्वारा बनाया जाता है, फिर भी रस्सी और बालटी आदि के ज़रिये उसमें से पानी खींचकर निकालना पड़ता है; परंतु गंगा का जल सबको बिना रुकावट, बिना कष्ट, केवल दात के तौर पर मिल जाता है। एक ओर पहले रूई की बत्ती बनाओ, कहीं से दीपक का प्रबंध करो, उसे तेल से भरो, फिर दियासलाई की तीली जलाकर उसे कुछ प्रकाश करने के लिये जलाओ, जबकि दूसरी ओर चाँद हमें उससे कहीं अधिक और शीतल चाँदनी से अपने आप ही कृतार्थ करता रहता है। इसी प्रकार जहाँ दूसरे लोग किसी एक कामना की पूर्ति के लिये किसी विशेष देवी-देवता की पूजा में कितनी-कितनी देर लगे रहते हैं, वहाँ शिष्य की सभी कामनाएँ अपने सतगुरु के दर्शन करते ही तृप्त हो जाती हैं और इसके सिवाय उसे यमदूत आदि के किसी प्रकोप का भी कोई भय नहीं रहता:

जैसे आन बिरख सफल होत समय पाइ,
सर्वदा-फलंते सदा फल सु स्वादि है।

जैसे कूप जल निकसत है जतन किये,
गंगा जल मुक्त प्रवाह प्रसादि है।
मृत्तिका* अग्नि तूल तेल मिलि दीप दिपै,
जग मग जोति ससिअर† बिसमाद है॥
तैसे आन देव सेब कीये फल देत जेत,
सतगुर दरस न सासन जमादि है॥¹³¹

किंतु गुरु की शरण में आये बिना किसी दूसरे की बुजुर्गी या बुद्धि से प्रभावित होकर उसके कहने में आ जायेंगे तो परमार्थ में पूरे नहीं उतर पायेंगे:

विणु गुर बचन जु मंनणा ऊरां परथाउ‡।

गुरु के सिवाय किसी और का दिया उपदेश नीरस और व्यर्थ होगा:

विणु गुर सबद गिआनु है फिका आलाउ§।

गुरु के सिवाय किसी और का ध्यान धरना द्वैत के दलदल में फँसने के समान है:

विणु गुरु होरु धिआनु है सभ दूजा भाउ।

सतगुरु को छोड़ किसी अन्य इष्ट की पूजा करना अंगूरों के भ्रम में कड़वे बकायन फल को चबाने जैसी भूल होगी:

विणु गुर चरणा पूजणा सभु कूड़ा सुआउ¶।¹³²

* मिट्टी का प्याला।

† चंद्रमा।

‡ तुच्छ साधन।

§ बकवास।

¶ स्वाद।

जन्म-मरण और नरकों में कष्ट सहने से तभी मुक्ति मिल सकती है जब सतगुरु की शरण में जाकर उनसे गुरुमंत्र प्राप्त कर लिया जाये:

बिन दीखिआ गुरदेव दी मरि जनमे विचि नरक पवासी।¹³³

आवागमन से छूटने के लिये मनमुख अभ्यासी अनेक प्रकार के यत्न करते हैं पर उन्हें सफलता नहीं मिलती, क्योंकि अगम मंडल की कुंजी गुरु के हाथ में है और गुरु का पल्ला उन्होंने पकड़ा नहीं। ऐसे साधकों के कुछ उदाहरण भाई गुरदास ने अपनी निम्नलिखित वार में देकर उनको गुरु की शरण ढूँढ़ने के लिये प्रेरित किया है। आप लिखते हैं:

सिर तलवाइआं* पाईऐ चमगिदड़ जूहै†।

मड़ी मसाणी जे मिलै विचि खुडा चूहै।

मिलै न वडी आरजा बिसीअरु विहु लूहै।

होइ कुचीलु वरतीऐ खर सूर भसूहे‡।

कंदमूल चितु लाईऐ अईअड़ वणु धूहे§।

विणु गुर मुकति न होवई जिउ घरु विणु बूहे॥¹³⁴

यदि पेड़ों से उलटे लटकने या सिर नीचे करके खड़े होने से कल्याण हो सकता तो चमगादड़ तो सारा दिन इसी प्रकार का तप करते रहते हैं। यदि श्मशान जैसे सुनसान स्थान में डेरा डालने से उद्धार हो जाता तो चूहे अवश्य बाज़ी मार लेते, क्योंकि वे अपने बिल ऐसी सुनसान जगह में ही बनाते हैं। योग-अभ्यास से आयु में भले ही वृद्धि हो जाती हो, पर अधिक वर्ष जीवित रहने से मोक्ष के अधिकारी नहीं बना जा सकता। साँप बहुत लंबी आयु भोगते हैं, परंतु अपने अंदर के ज़हर में ही जलते या तपते रहते हैं।

* उलटे सिर।

† वनों में।

‡ मिट्टी में पलीत होना।

§ अईअड़...धूहे=बकरियों के झुंड वन में ही खाते हैं।

यदि शरीर पर पानी न डालना, कपड़े न धोना यानी केवल गंदे रहने से छुटकारा संभव हो तो कीचड़ या मिट्टी में लेटनेवाले सूअरों और गधों को अपनी योनि की अधम गति में अधिक समय जीना न पड़े। कई लोगों का विचार है कि जंगलों में रहकर वृक्षों और पौधों के फलों तथा जड़ों से पेट भरने से निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है, पर वे यह नहीं सोचते कि भेड़ों और बकरियों के सारे झुंड इन्हीं वस्तुओं को खाकर निर्वाह करते हैं। सच तो यह है कि जिस प्रकार दरवाज़े के बिना किसी घर में प्रवेश नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार गुरु की सहायता के बिना मुक्ति का द्वार नहीं मिलता।

यह दलील तीर्थों पर स्नान करने (मेंढक), जटा रखने (बड़ का वृक्ष), नंगे घूमने (मृग), शरीर पर भभूत मलने (गधा), मौन धारण करने (पशु) पर भी बरबस लागू होती है:

मिलै जि तीरथि नातिआं डडां* जल वासी।
 वाल वधाइआं पाईऐ बड़ जटां पलासी।
 नंगे रहिआं जे मिलै वणि मिरग उदासी।
 भसम लाइ जे पाईऐ खरु† खेह निवासी।
 जे पाईऐ चुप कीतिआं पसूआं जड़ हासी।
 विणु गुर मुकति न होवई गुर मिलै खलासी॥¹³⁵

कुछ लोग सोचते हैं कि यदि हम महापुरुषों के कथन के अनुसार ज्योति स्वरूप हैं, फिर तो अपने आप को प्रसन्न करना ही परमेश्वर को प्रसन्न करना है। इसलिये वे विषय-विकारों में फँसे रहने को ही प्रभुप्राप्ति का उचित साधन मानकर अपना विनाश कर लेते हैं। कुछ अन्य का विचार है कि इस संसार, इसके जीवों और वस्तुओं से किसी भी प्रकार का

* मेंढक।

† गधा।

लगाव पतन का कारण बन जाता है। इसलिये वे शहरों, गाँवों को त्यागकर जंगलों में जा बिराजते हैं या निर्जन मरुस्थल में हवा के तेज़ झोंकों और रेत की आँधी में भटकते फिरते हैं या पहाड़ों की गुफाओं में डेरा लगा लेते हैं। एक अन्य प्रकार के अभ्यासी जगह-जगह पानी में डुबकी लगाने में ही आध्यात्मिक मंज़िल छिपी देखते हैं और इस प्रकार मानो मगरमच्छ से बाज़ी लगा लेते हैं। कुछ ऐसे भी मिलते हैं जो तारों की भाँति किसी बहुत ऊँचे वृक्ष की शाखाओं में छिपकर रहते हैं या साँपों के बिल के समान गड्ढे खोदकर पाताल के वासी बन जाते हैं। पर इस प्रकार की कोई भी साधना किसी काम नहीं आती, वह संसार के दलदल में फँसने का ही कारण बनती है। इन भूले हुए जिज्ञासुओं को समझना चाहिये कि सतगुरु की शरण लिये बिना अन्य कोई भी प्रयत्न करने से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती:

कोटी सादी* केतड़े जंगल भूपाला।
 थली वरोले केतड़े परबत बेताला†।
 नदीआं नाले केतड़े सरवर असराला‡।
 अंबरि तारे केतड़े बिसीअरु§ पाताला।
 भंभलभूसे भुलिआं भवजल भरनाला॥
 इकसु सतिगुर बाहरे सभि आल जंजाला॥¹³⁶

* करोड़ों स्वाद।

† भूत।

‡ मगरमच्छ।

§ साँप।

॥ संसार का प्रवाह।

सचु नाउ करतारु गुरुमुखि पाईऐ।³

3

नाम

ॐ

यों भी कह सकते हैं कि शब्द के अभ्यास की युक्ति गुरु से सीखनी ज़रूरी है। हालाँकि उसकी ध्वनि हर प्राणी के हृदय में हर पल होती रहती है, लेकिन गुरु की युक्ति के बिना उसे सुनना संभव नहीं।

शिष्य के लिये सतगुरु की सिखाई हुई युक्ति के अनुसार शब्द में सुरत की लिव जोड़ना ही मूल मंत्र का अभ्यास होता है। वह किसी अन्य प्रकार के तंत्र-मंत्र के पाठ या जाप में कोई दिलचस्पी नहीं रखता:

सतगुरु सबद सुरति लिव मूल मंत्र,
आन तंत्र मंत्र की न सिक्खन प्रतीत है।⁴

गुरु के शिष्य द्वारा किये जानेवाले सिमरन से भाव उस नाम के जाप से है जो सतगुरु उसे नामदान के समय गुरुमंत्र के रूप में प्रदान करे। शिष्य के अपने मन की मति के अनुसार पसंद किये, किसी और के बताये हुए या इधर-उधर से पढ़े-पढ़ाये नाम का जाप न करे:

गुरसिखी दा सिमरणो सतिगुरु मंतु कोलू रसु इखै*।⁵

संतमार्ग की साधना अक्षरी नाम के सिमरन से आरंभ होती है, उस नाम को बार-बार दोहराने के रूप में। हमारे समय में स्कूल के बच्चे अपने पहाड़े (एक दूनी दो) ऊँची आवाज़ में बोलकर याद किया करते थे। इस विधि से ध्यान को स्मरण की जानेवाली वस्तु पर रोककर रखने के लिये ज़बान की और कानों की भी सहायता ली जाती है, परंतु गुरु के दिये हुए नाम का सिमरन इस तरह नहीं किया जाता। गुरु द्वारा बताये गये नाम का सिमरन न ज़बान से किया जाता है, न माला फेरकर। इसमें किसी प्रकार की बाहरी वस्तु का आधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह मन के द्वारा किया जाता है और इसकी विधि संत-सतगुरु दीक्षा देते समय जिज्ञासु

* मीठा।

आम तौर पर 'नाम' का भाव उस शब्द से लिया जाता है जिसके द्वारा किसी विशेष व्यक्ति को पहचाना, बुलाया या याद किया जाता हो और जो एक होता है। यहाँ जिस नाम का जिक्र है, वह है—हमारा कर्तापुरुष, परमेश्वर। जब गुरु अर्जुन साहिब फ़रमाते हैं, नाम सिमर चिंता सभ जाहे॥¹ या भाई गुरदास, सिमरि सहसि फण सेसु, तिलु न पछाणिआ।², तो आपका संकेत उसी एक के नाम के सिमरन की ओर है।

वैसे तो नाम वह शक्ति है जो संपूर्ण सृष्टि की रचना और प्रतिपालन करनेवाली है, पर थोड़ी देर के लिये हम अपना ध्यान उस नाम पर केंद्रित करेंगे जो प्रेम और भक्ति के मार्ग पर चलते समय प्रभु से मिलाप करने के माध्यम के तौर पर उपयोगी होता है। यह नाम अक्षरों, मात्राओं का समूह भी हो सकता है, जैसे हरि, वाहिगुरु आदि, ये वर्णात्मक नाम हैं दूसरा नाम है—अनाहत या अनहद शब्द की ध्वनि जिसे धुनात्मक नाम भी कहा जा सकता है। संत-सतगुरुओं की वाणी में नाम प्रायः इन्हीं दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है और भाई गुरदास की रचना में भी इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त है।

नाम सतगुरु से ही

परमेश्वर का सच्चा नाम, 'आदि जुगादि' नाम, अथवा अनादि और अनंत नाम, केवल सतगुरु से ही प्राप्त हो सकता है:

को समझाते हैं। नाम-सिमरन की जितनी भी महिमा की जाये, थोड़ी है। देखें, गुरु अर्जुन साहिब ने इस विषय में सुखमनी साहिब में तथा अन्य स्थानों पर कितना कुछ लिखा है और बाक्री संत-सतगुरुओं ने भी। पर यह सिमरन उस तरह का आसान काम नहीं जिस तरह बड़े लोग अपने पद की शपथ के तौर पर कुछ निश्चित शब्द पढ़कर सुनाते हैं और मंत्री या न्यायाधीश बन जाते हैं। नाम की तो हर साँस के साथ सिमरन करने की ताकीद की जाती है, सास सास सिमरहो गोबिंद॥⁶, बल्कि हर ग्रास के साथ भी सास ग्रास हर नाम समाल॥⁷ आपने देखा होगा कि पानी की तुच्छ बूँद किसी पत्थर पर लगातार एक ही जगह टपकती रहे तो वह उसमें गड़ढा बना देती है, सूराख बना देती है। नाम के अभ्यासी के लिये भी ऐसी ही लगन आवश्यक है:

गुरमुखि ओअंकारु सबदि धिआईऐ।

गुरमुखि सबदु वीचारु सदा लिव लाईऐ।⁸

शब्द में वृत्ति जोड़ने के लिये आवश्यक है कि गुरु से दीक्षा ली जाये। अपनी निजी कोशिशों से या ग्रंथ-शास्त्रों पर ही निर्भर रहने से उसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। अगर कोई राही, मार्ग की सही जानकारी न होने पर भी अंधाधुंध यात्रा जारी रखता है तो वह अधिकतर अपने रास्ते को तय करने के बजाय और अधिक लंबा कर लेता है। अपनी असफलता पर बाद में आँसू बहाने से बचना हो तो उसके लिये उचित है कि सतगुरु के मार्गदर्शन के बिना परमार्थ के मार्ग पर क़दम न बढ़ाये:

गुरमुखि नामु अधारु न पछोताईऐ॥⁹

सच्चे शब्द के सिक्के को प्रभु ने अपनी टकसाल में गढ़ा है और उसे बाँटने के लिये सतगुरु को सौंप दिया है:

सच सबदु गुरि सउपिआ सच टकसालहु सिका चलिआ।¹⁰

स्पष्ट है कि वह सिक्का सतगुरु की भक्ति के अलावा किसी और साधन द्वारा नहीं मिल सकता। यही विचार भाई साहिब ने अपने एक कबित में कुछ अन्य उपमाओं द्वारा स्पष्ट किया है:

जैसे बिन पवन कवन गुण चन्दन कै,

बिनु मलयागर* पवन कत बास है।

जैसे विनु वैद्य औषधि† गुण गोप होत,

औषधि बिनु वैद्य रोगहि न ग्रास है।

जैसे बिनु बोहिथ‡ न पारि परै खेवट से,

खेवट बिहून कत बोहिथ बिश्वास है।

तैसे गुरु नाम बिनु गम्य न परम पदु,

बिनु गुरु नाम निहकाम न प्रगास है॥¹¹

यदि पवन चंदन की सुगंध को जगह-जगह न फैलाये तो इस अनुपम वृक्ष का कुछ भी प्रभाव मालूम न पड़े। इसके विपरीत, यदि चंदन के वृक्ष ही कहीं मौजूद न हों, तो हवा सुगंधि से खाली रह जाये। यदि औषधियों के गुणों और प्रकृति को जाननेवाले वैद्य पैदा न हों तो औषधियों की रोगों को मिटाने की शक्ति व्यर्थ चली जाएगी और औषधियों के न उगने की दशा में अनेक बीमारियाँ वैद्यों के वश में नहीं रहेगी। नाव के बिना चतुर से चतुर नाविक भी अपने यात्रियों को नदी से पार नहीं पहुँचा सकता और यदि नाविक की सहायता का भरोसा न हो तो कोई भी सवारी नाव में बैठने का साहस न करे। इसी प्रकार यदि गुरु न हों तो सच्चा नाम (शब्द) अंतर में प्रकट नहीं किया जा सकता और गुरु के बख्शे नाम के बिना परमपद की प्राप्ति भला कहाँ से होगी?

* चंदन।

† दवाई।

‡ जहाज़।

शब्द

नाम (शब्द) की दौलत गुरु द्वारा शुरू से अर्थात् युगों के आरंभ से ही बाँटी जा रही है:

आदि पुरखु आदेसु करि आदि जुगादि सबद वरताइआ।¹²

‘शब्द’ के कई अर्थ प्रचलित हैं। उनमें से एक है ‘पद’ अर्थात् किसी संत-महात्मा के छंद-बंद वचन; इसके सिवाय ‘लफ़्ज़’, कुछ अक्षरों, मात्राओं का समूह। दूसरा अर्थ है खट-खट की आवाज़। तीसरा अर्थ है किसी शिष्य को गुरु द्वारा दी गई दीक्षा। ‘शब्द’ परमेश्वर या वाहिगुरु और उसके ‘हुकम’ के लिये भी प्रयोग किया गया है।

जहाँ तक कानों से सुने जानेवाले शब्द का संबंध है, वह ऐसा भी हो सकता है कि मुँह से बोला और लिखित रूप में लाया जा सके, वर्णात्मक शब्द: आसा राग की वार इस श्रेणी में आ जायेगी। इसके विपरीत वह शब्द है जो किसी एक चीज़ के दूसरी से टकराने से पैदा हो, जैसे सितार, तबले की सहायता से पैदा किया हुआ संगीत।

धुनात्मक शब्द न ज़बान से बोला जा सकता है, न क़लम की पकड़ में आता है। इस शब्द की एक विशेष क्रिस्म है, अनाहत शब्द। यह वह ध्वनि है जिसे हमारे पाँच तत्त्वों से बने भौतिक कान नहीं सुन सकते, इसका अनुभव सुरत यानी आत्मा द्वारा होता है, शरीर द्वारा नहीं।

शब्द का स्वरूप

शब्द के स्वरूप का थोड़ा-सा अनुमान लगाने के प्रयत्न के रूप में कहा जा सकता है कि शब्द किसी घिरी हुई शांत झील का पानी नहीं, वह एक सदा बहनेवाले झरने के समान है। जब झरना पहाड़ की छाती चीरकर धरती पर प्रकट होता है, तब कानों के लिये उसकी अलग पहचान होती है, जब वह अपना रास्ता रोकनेवाले पत्थरों से टकराता हुआ उनके इधर-उधर से आगे बढ़ता है, तो और प्रकार का शोर पैदा करता है। प्रपात बनकर गिरते समय अलग, मैदानों में सहज रूप से बहते तथा

अपनी यात्रा के अंत में सागर से मिलते समय कुछ अलग आवाज़ होती है। इसी प्रकार जब सत्संगी शब्द की साधना में प्रगति करते हुए आगे बढ़ता है, तो उसे शब्द की धुन हर पड़ाव पर अलग रूप में सुनाई देती है। क्योंकि सतदेश से मृत्यु-मंडल तक का मार्ग बहुत लंबा है, इसलिये उसके दौरान सुने जानेवाले शब्द के स्वर भी अनगिनत हैं। भाई गुरदास के शब्दों में:

अनहद नाद असंख सुणि होए हैराणै।¹³

बेशक, उन स्वरों की विविधता चकित कर देनेवाली है। कहीं वह घुँघरू की भाँति बजता है, घुँघरू वाजै जे मन लागै॥¹⁴; कहीं घंटे की तरह-घंटा जा का सुनीऐ चहु कुंट॥¹⁵; कहीं किंगरी की तरह-घट घट वाजै किंगुरी अनदिन सबद सुभाए॥¹⁶; कहीं वीणा की तरह-बाजंत नानक सबद बीणां॥¹⁷; कहीं सिंडी की तरह-वाजे बाझहो सिंडी वाजै तउ निरभउ पद पाईऐ॥¹⁸ इत्यादि।

भाई गुरदास ने भी गुरु साहिबान की तरह अनहद शब्द की रुनझुन से, बादल की गरज से, सिंडी से, तुरी (तुरही) से मिलती-जुलती ध्वनि का विवरण दिया है:

माया औ ब्रह्म सम दसम दुआर पार,
अनहद रुणझुण बाजत नीसाने हैं।¹⁹

सहज समाधि उन्मन जगमग जोति,
अनहद धुनि रुणझुण लिव लाईऐ॥²⁰

घनहर चात्रिक मोर जिउ
अनहद धुनि सुणि पाइल पाई।²¹

सिंडी सुरति विसेखु सबदु वजाइआ।²²

वजनि अनहद तूर जोति जगावणा॥²³

अंतिम तुक से यह भी विदित होता है कि शब्द की धुन में प्रकाश होता है या कह सकते हैं कि उस रूहानी प्रकाश में धुन भी होती है। भाई गुरदास की प्रतिभा की एक विशेष खूबी यह है कि वे कई बार एक ही वाक्य में बहुत कुछ कह जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण इस विषय पर प्रकाश डालता है:

सबद सुरति गुर सिखु होइ अनहद बाणी निझरधारा।²⁴

शब्द की धुन हक्रीकृत में प्रभु की वाणी है। वह बिना तार टूटे एकरस बजती रहती है; उसे सुनने की युक्ति गुरु से सीखनी पड़ती है और उसका आनंद पाने का ज़रिया है सुरत। इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए भाई वीर सिंह लिखते हैं:

“अनहद शब्द जो बार-बार वारों में आता है, कानों की घूं-घूं का नाम नहीं है, जो कान बंद करने पर सुनाई देता है। यह तो आहत शब्द है। जो शब्द आहत के बिना हो सो अनाहत है, वाहिगुरु का जाप जब पूरा रूप हो जाता है तब वह आप ही आप जारी रहता है, शब्द ब्रह्म में सुरत के पहुँचने पर उसका शब्द ब्रह्म के रूप में अनुभव होता है।”

जिस प्रकार रेल की समय-सारिणी में संक्षिप्तता के कारण कई बार छोटे स्टेशन दर्ज नहीं किये जाते, केवल जंक्शनों का ही विवरण होता है, उसी प्रकार शब्द के चाहे अनेक प्रकार हैं, वाजे तेरे नाद अनेक असंखा...॥²⁵, उनमें से पाँच का ही विशेष ज़िक्र किया जाता है:

पंचाइन परमेसरो पंच सबद घनघोर नीसाणा।²⁶

पंजे तत उलंघिआ पंजि सबद वजी वाधाई।²⁷

वास्तव में शब्द एक ही है, पर सतलोक से नीचे उतरते हुए अलग-अलग मंडलों में उसकी ध्वनि बदल जाती है। बाँसुरी में किये गये सूरस्र बहुत पास-पास होते हैं, तो भी एक ही फूँक की हर सूरस्र में से निकलती आवाज़ उसके साथ वाले सूरस्रों से भिन्न होती है। सर्वोच्च मंडल,

सचखंड में ये सब धुनें मिल-जुलकर एक सतशब्द का रूप धारण कर लेती हैं:

सबद सुरति लिव साध संगि पंच सबद इक सबद मिलाए।²⁸

शब्द अलेख है

यह कर्मलेख से मुक्त कर देने का सामर्थ्य रखनेवाला शब्द जिस प्रकार साधारण कानों से सुना नहीं जाता, उसी प्रकार लिखने में भी नहीं आता:

लेख अलेख अलिख सबद कमावणा।²⁹

खट रस त्याग प्रेम रस कौ प्राप्त भए,
पूर सुर सपत अनहद अभ्यासी है॥³⁰

इस शब्द का शारीरिक कानों से सुने जानेवाले, गाये-बजाये जानेवाले शब्द से दूर या निकट का कोई संबंध नहीं है। जिस प्रकार प्रभु के प्रेमरस के इच्छुक को खट्टे-मीठे आदि स्थूल शरीर के रसों की ओर से मुँह मोड़ना पड़ता है, उसी प्रकार अनहद शब्द का अभ्यासी सांसारिक संगीत की ध्वनियों की ओर रुचि नहीं रखता। अपने इस विचार पर भरपूर बल देने के लिये भाई गुरदास ने लिखा है:

जौ लौ आन ज्ञान, तौ लौ नहीं अध्यात्म ज्ञान,
जौ लौ नाद बाद, न अनाहद बिसेखियै॥³¹

शब्द: सच्चा नाम

सुखमनी साहिब में गुरु अर्जुन साहिब ने कहा है, प्रभु के सिमरन अनहद झुनकार॥³²—प्रभु के नाम का सिमरन करते रहें तो अंतर में शब्द की धुन सुनाई देने लगती है। ज़बान से सिमरन किये या जपे जा सकनेवाले नाम को अक्षरी, वर्णात्मक या कृत्रिम नाम कहते हैं, किरतम नाम कथे तेरे जिहबा॥³³

मनुष्य द्वारा समय-समय पर प्रचलित किये गये राम, रहीम, आदि नाम तो खिलकर मुरझा जानेवाले फूलों के समान थोड़े-बहुत समय के लिये हैं, जब कि प्रभु का रचा नाम, आपीन्है आप साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ॥³⁴ अविनाशी है, सतनाम है सत नाम तेरा परा पूरबला॥³⁵ तभी तो साधक अपनी साधना अक्षरी या कृत्रिम नाम से आरंभ करता है, पर जब उसे अनाहत शब्द सुनाई देने लगता है, तो वह पहलेवाले नाम को छोड़कर इस सच्चे नाम का पल्ला पकड़ लेता है और इसके सहारे अपनी मंज़िल पर पहुँच जाता है। इसी नाम के संबंध में भाई साहिब कहते हैं:

सचु नाउ करतारु आपु उपाइआ।³⁶

इस अमर अनादि नाम का भेद सतगुरु से मिलता है और इसका अभ्यास करनेवाला, गुरुमुख अवस्था को प्राप्त कर लेता है:

सतिगुर सचा नाउ गुरमुखि जाणीऐ।³⁷

शब्द द्वारा सृष्टि

शब्द परमेश्वर की सृजनकारी शक्ति है। सारी सृष्टि इसी के द्वारा रची गई है। जैसे गुरु नानक साहिब ने जपु जी में बताया था, कीता पसाउ एको कवाउ॥³⁸ वैसे ही भाई गुरदास कहते हैं:

इक कवाउ पसाउ करि ओअंकारि अकारु पसारा।⁴⁰

उसने प्रसार किया और करोड़ों ही खंड-ब्रह्मांड बना दिये:

* 'कवाउ' का अर्थ है 'हुक्म' या शब्द जिसने सृष्टि की रचना की है। भाई वीर सिंह ने 'श्री गुरु ग्रन्थ कोश'³⁹ में हुक्म की व्याख्या इस प्रकार की है, "हुक्म निर्गुण में निर्गुण रूप है, परंतु जग-रचना के समय शब्द-रूप में ही प्रकट होता है, इसलिये शब्द का अर्थ कई स्थानों पर हुक्म है। ...जगत की उत्पत्ति एक ही कवाउ से हुई है।" इस प्रकार गुरुमत में 'शब्द', 'हुक्म' और 'कवाउ'—तीनों का प्रयोग समान अर्थों में किया गया है।

करि ब्रह्मंड करोड़ि कवाउ वधाइआ।⁴¹

इक कवाउ पसाउ करि कुदरति अंदरि कीआ पासारा।⁴²

परमात्मा ने एक शब्द से संसार की उत्पत्ति की और फिर स्वयं उसके कण-कण में विद्यमान हो गया। यह शब्द लिखा, पढ़ा या बोला जानेवाला शब्द नहीं, न वह किसी बाजे या यंत्र के माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता है। यह वह धुन है जिसे प्रभु स्वयं, किसी एक वस्तु को दूसरी से टकराये बिना ही उत्पन्न कर देता है और जिसका संचार हर हृदय में हर पल अखंड रूप से होता रहता है। इसलिये इस शब्द का वर्णन अनाहत शब्द के रूप में किया जाता है।

भाई गुरदास आध्यात्मिक मार्ग पर चलनेवालों को सावधान करते हुए फ़रमाते हैं कि हमें प्रभु के उस शब्द की कमाई करनी है जो प्रभु की भाँति ही अगम, अगोचर, अलख और अभेद है:

सचि सबदि आराधीऐ अगम अगोचरु अलख अभेउ।⁴³

स्पष्ट है कि जो चीज़ मन तथा इंद्रियों की पहुँच से परे हो, जो देखी न जा सके और जिसका भेद न मिले, वह किसी ग्रंथ या पुस्तक में लिखी नहीं मिलती और न ही कोई साधारण मनुष्य उसका ज्ञान करा सकता है:

राग नाद अनाहद धुनी ओअंकारु न गावणहारा।⁴⁴

यह शब्द, ओंकार की धुन, साधारण रागों, नादों की तरह जीवों के गाने का विषय नहीं:

सिंमृति पुरान बेद शासत्र समान खान,
राग नाद बाद मै न सबद उदोत है॥⁴⁵

इकत्तीस स्मृति, अठारह पुराण, चार वेद, छः शास्त्र, चार खानियाँ, चौरासी राग-रागिनियाँ और बाजों का संगीत कोई भी इस शब्द को प्रकट करने में सहायक नहीं होता।

पाँच शब्द

भाई गुरदास की वाणी में शब्द की पाँच प्रकार की ध्वनियों का वर्णन मिलता है। इन ध्वनियों को पाँच शब्द भी कहते हैं। आप कहते हैं:

पंज सबद परवाणु नीसाणु बजाइआ॥⁴⁶

“वह अनाहत शब्द पाँच प्रकार का होता है, फिर शब्द ब्रह्म की एकता में और वहाँ से निराकार में ले जाता है।”

पंजे सबद अभंग अनहद केलिआ।⁴⁷

ये पाँच शब्द निरंतर बजते रहते हैं और ये अभ्यासी को अति आनंदित करते हैं:

सबद अनाहदु रंग सुझ इकेलिआ।⁴⁸

यह शब्द घड़ी या दो घड़ी का मनोरंजन नहीं है, बल्कि जब अभ्यासी का इसके प्रति प्रेम जाग उठता है तो यह सृजनहार का ज्ञान करा देता है।

पाँच शब्द की गम्यता

शब्द-अभ्यास की जो युक्ति सतगुरु बताते हैं, उससे पाँच शब्द तक पहुँच प्राप्त हो जाती है, उनका ज्ञान हो जाता है और यह भी अनुभव हो जाता है कि भले ही आध्यात्मिक मार्ग के अलग-अलग पड़ावों पर अनहद शब्द की ध्वनियाँ एक दूसरे से अलग प्रतीत होती हैं, पर वे असल में प्रभु के रचे हुए एक ही अनहद शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं:

श्री गुरु सबद पंच सबद गिआन गंम,

सरब सबद अनहद समझाए है॥⁴⁹

शब्द : प्रभु की अकथा कथा

सतगुरु के उपदेश पर अमल करने के फलस्वरूप सुनाई देनेवाला यह अनाहत शब्द परमेश्वर की ओर से की जा रही उसकी अपनी कथा है:

सबद सुरति लिवलीण होइ अकथ कथा गुर सबद सुणंदे।⁵⁰

यों भी कह सकते हैं कि यह अद्वितीय बजंत्री (वादक) की अपने निराले साज़ द्वारा पैदा की हुई धुन है:

गुरमुखि ब्रह्म धिआनु धुनि जाणै जंत्री जंत्र वजाए।⁵¹

प्रभुरूपी बजंत्री के अनहद शब्द को सुनकर सुरत उसकी धुन में लीन हो जाती है:

सबद सुरति लिव लीणु होइ जंत्र जंत्री वाई।⁵²

प्रभु की अकथ कथा एकाग्र सुरत से गुरु के उपदेश का अनुसरण करते हुए शब्द के रूप में ही सुनी जाती है:

सबद सुरति लिवलीण होइ अकथ कथा गुर सबद सुणंदे।⁵³

सुरत से सुनना

यह शब्द (नाम) केवल सुरत द्वारा ही सुना जाता है, सुरत की ज़बान से गाया जाता है और अंतःकरण की आंतरिक परतों या कण-कण में बसा लिया जाता है। मनुष्य के सिर से लगे दायें-बायें कानों से इसका कोई संबंध नहीं है और न मांस की बनी तीन इंच लंबी जिह्वा से ही इसका कोई ताल्लुक है:

गुरमुखि सुनणा सुरति करि पंच सबदु गुर सबदि अलापै।⁵⁴

सबद सुरति सुणि गाउ अंदरि आणीऐ।⁵⁵

और भी:

अनहद सबद अगाज बाणी गावणी।⁵⁶

अर्थात् अक्षरी नाम के सिमरन द्वारा अनहद शब्द को अपने अंदर प्रकट कर लेने के बाद इसी वाणी को गाना है, इसी की कमाई करनी है।

फिर किसी और सिमरन की आवश्यकता ही नहीं रहती। आदि ग्रन्थ साहिब में भी शब्द को ही सच्ची वाणी कहा गया है, सच बाणी सच सबद है जा सच धरे पियार॥⁵⁷, सची वाणी सच धुन सच सबद वीचारा॥⁵⁸

गुरुशब्द का कीर्तन

साधना के दौरान अनहद शब्द की जो गुंजार अंतर में सुनाई देती है उसी को महात्माओं ने गुरुशब्द का कीर्तन कहा है:

सहज समाधि कीरतन गुरु सबद कै,
अनहद नाद गरजत उनमानियै॥⁵⁹

गुरुमुख की सिंगी, धुन

योगी अपने पंथ की राग नाद से संबंधित रीति का पालन करते हुए जब कभी मन आये तो सिंगी में फूँक मारकर आवाज़ पैदा कर लेते हैं, पर सतगुरु के शिष्य इस प्रकार के बाहरमुखी शब्द पर निर्भर नहीं रहते, वे अपनी सुरत को अपने अंदर निरंतर सुनाई देनेवाली अनाहत धुन से जोड़कर रखते हैं और अपने इस एकमात्र 'आई पंथ'* या योगमार्ग की साधना द्वारा निज स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं:

सिंडी सुरति विसेखु सबदु वजाइआ।
गुरुमुखि आई पंथु निजधरु पाइआ।⁶⁰

शब्द का कोई कैसे वर्णन करे, इस बारे में भाई साहिब कहते हैं:

बालक पै नाद बाद सबद बिधान चाहै,
अनहद धुनै रुन झुन सुरति स्रोत है।⁶¹

* योगियों के बारह पंथों में एक संप्रदाय जो दूसरों के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार करते हैं।

शब्द धुन सुननेवाले के लिये उसकी व्याख्या करना असंभव है, उसी तरह जैसे एक बच्चे से आस रखना कि वह किसी विशेष राग के गाये-बजाये जाने की विधि समझा पायेगा।

शब्दरस

भाई साहिब कहते हैं:

केवडु रस कस आखीअनि केवडु साद नाद ओअंकारा।⁶²

प्रकृति कितने ही स्वादिष्ट पदार्थ पैदा करती है तथा मनुष्य भी अपनी बुद्धि तथा उद्यम से जोड़-तोड़ करके कितने ही अन्य रस स्वयं बना लेता है। ये सब लुभावने हैं, पर ओंकार की पैदा की हुई शब्द धुन का रस तो बिल्कुल ही अकथनीय है:

सबदु सुरति लिव पिरम रसु अकथ कहाणी कथी न जाए।⁶³

शब्द का रस किसी भी दूसरे रस से उत्तम और रोचक है, इसलिये एक बार उसकी लगन लग जाने पर फिर मन किसी अन्य रस की कभी इच्छा भी नहीं करता। गन्ना हाथ से फेंककर ज्वार का ढूँढ़ कोई नहीं चूसेगा:

निज घरि निहचल जाइ न दहदिस धाइआ।⁶⁴

जहाँ तक स्वाद का संबंध है, कोई भी रसीला पदार्थ अमृत का मुकाबला नहीं कर सकता और अमृत की बड़ाई केवल उसके जिह्वा को भा जाने में नहीं, बल्कि वह तो शक्तिशाली मौत को भी निकट नहीं आने देता। पर भाई गुरदास के कथनानुसार जो अनहद शब्द एक अटूट धार के रूप में अंतर में सदा बहता रहता है उसकी बराबरी किसी दूसरे प्रकार के अमृत से नहीं हो सकती। जिसको सतगुरु यह शब्द का अमृत पिला देता है, वह स्वयं सतगुरु में समा जाता है, शब्द रूप हो जाता है:

निझर अपार धार तुल्य न अमृतरस,
अपिउ पीयावै जाहिं, ताही में समावई॥⁶⁵

धुनरूपी रत्नों की वर्षा

जब साधक शब्द में लिव जोड़ता है तो उसे ऐसी अनहद शब्द की धुन सुनाई देती है, मानो संगीत के रत्नों की वर्षा हो रही हो। इस तरह उसे अगम और अडोल अवस्था प्राप्त हो जाती है:

राग रतन अनहद धुनी सबदि सुरति लिव अगम अलोले।⁶⁶

प्रेमरस और गुरुशब्द

संसार के जीवों को अपनी इंद्रियों द्वारा कितने ही प्रकार के रस प्राप्त हो जाते हैं। अपने-अपने स्वभाव और रुचि के अनुसार किसी को कोई एक रस अधिक अच्छा लगता है तो किसी को दूसरे प्रकार का। इन सब रसों में से कोई भी रस प्रभु की प्रीति के आनंद की बराबरी नहीं कर सकता। इस रस का आनंद लेने के लिये इसके भिन्न-भिन्न अभिलाषियों ने अपनी-अपनी बुद्धि का प्रयोग करके अलग-अलग साधन आजमाये हैं। पर जैसा कि भाई गुरदास ने स्पष्ट किया है, इस रस का आनंद केवल गुरुशब्द के अभ्यास द्वारा ही मिलता है, किसी और प्रकार नहीं।

हम सब जानते हैं कि अगर किसी व्यक्ति की आँखों की ज्योति चली जाये तो वह किसी भी प्राकृतिक दृश्य, सुंदर कलाकृति, सुंदर नैन-नक्श वाले प्राणी के रूप के स्वाद से वंचित रह जायेगा। इसी प्रकार कानों से बहरे को किसी के गले की मधुर आवाज़ या साज़ की आकर्षक ध्वनि सुनाई नहीं दे सकेगी। गूँगी जिह्वा से कुछ भी कह पाना संभव नहीं है। नाक की सूँघने की शक्ति नष्ट हो जाने की अवस्था में किसी सुगंध का पता नहीं चलता। हाथ काम न करें तो कोई कार्य कैसे किया जा सकता है? और यदि पैर अकड़ जायें तो कहीं चलकर जाने की बात सोची भी नहीं जा सकती। शरीर को निश्चित नियमों के अनुसार भोजन करने और मौसम के अनुसार वस्त्र पहनने को न मिलें तो वह स्वस्थ नहीं रहता। इसी प्रकार गुरु की बतायी हुई युक्ति के अनुसार शब्द की कमाई किये बिना प्रेमरस से भरपूर होने की आशा रखना व्यर्थ है:

जैसे बिनु लोचन बिलोकीऐ न रूप रंग,
श्रवन बिहून राग नाद न सुनीजीऐ।
जैसे बिनु जिहबा न उचरै बचन अरु,
नासिका बिहून बास बासना न लीजीऐ।
जैसे बिनु कर करि सकै न कृत कर्म,
चरण बिहून भनन गनन कत कीजीऐ।
अशन बसन बिनु धीरज न धरै देहि,
बिनु गुर शब्द न प्रेम रसु पीजीऐ॥⁶⁷

गुरुमुख को अपनी प्रेमपूर्ण भक्ति से कितना आनंद प्राप्त होता है, इसका मूल्यांकन करते हुए भाई गुरदास कहते हैं कि तीनों लोकों की सब संपत्तियाँ अर्थात् लाखों-करोड़ों गुना चारों पदार्थ और सब ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ, निधियाँ, लाखों पारस, लाखों कल्पवृक्ष, लाखों तरह की लक्ष्मी, लाखों चिंतामणि, लाखों कामधेनु, चतुरंग सेना, अमूल्य माणिक, मोती, हीरे, लाखों चाँदी के पहाड़, लाखों सोने के सुमेर जैसे पर्वत और लाखों राजपाट आदि भी प्रेमरस की बराबरी नहीं कर सकते:

चारि पदारथ रिधि सिधि निधि लख करोड़ी।
लख पारस लख पारजात लख लखमी जोड़ी।
लख चिंतामणि कामधेनु चतुरंग चमोड़ी।
माणक मोती हीरिआ निरमोल महोड़ी।
लख कविलास सुमेरु लख लख राज बहोड़ी।
गुरुमुखि सुख फलु पिरम रसु मुलु अमुलु सुथोड़ी॥⁶⁸

सहज समाधि

सहज समाधि आध्यात्मिक साधना की सबसे उच्च अवस्था है। जब सत्संगी प्रेम सहित और सही ढंग से शब्द में लिव जोड़ता है, तो इस

समाधि में लीन हो जाता है। वहाँ पहुँचकर उसे अनहद धुन के सिवाय किसी और राग में दिलचस्पी नहीं रहती:

प्रेम नेम सहज समाधि अनहद लिव,
दुतीआ सबद स्रवनंतर न कीन है।⁶⁹

ज्योति

पूजा का स्थान भले ही शिव का शिवालय, मरियम का गिरजाघर या हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह आदि कोई भी हो, वहाँ श्रद्धालु व्यक्ति दीपक, मोमबत्ती या चिराग अवश्य जलाते हैं। हमारी काया स्वयं परम पुरुष का मंदिर है, हर मंदिर एह सरीर है...॥⁷⁰, फिर उसे प्रकाश विहीन या अँधेरे में क्यों रखा जाता है? गुरबानी हर हृदय में अखंड जोत के जलते रहने की साक्षी देती है। भाई गुरदास जैसे श्रेष्ठ कोटि के गुरुमुख उस जोत से बेखबर नहीं हो सकते थे। आपने अपनी रचना में उसका बड़े ही स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। जैसे:

साध संगति सच खंडु गुरुमुख जाईऐ।
सचु नाउ बलवंडु* गुरुमुख धिआईऐ।
परम जोति परचंडु जुगति जगाईऐ।⁷¹

जब शिष्य सतगुरु की संगति में पहुँचता है, तो सतगुरु से परमपिता परमात्मा के सच्चे नाम का उपदेश लेकर उसका सिमरन करता है और बताई हुई युक्ति के अनुसार अभ्यास करके परम पुरुष की जगमग जोत को प्रकट कर लेता है।

साधारण मनुष्य तो इस कपटी मन और विकृत बुद्धि से दूषित इंद्रियों के सात समुद्रों में गोते खाते रहते हैं, पर गुरुमुख इनके प्रभाव में नहीं आते। वे पापों से अलेप रहते हैं। उनके इस बचाव का कारण है, उनके अंदर अनहद

* बलवान।

शब्द की जोत का निरंतर प्रकाश। यह प्रकाश उन्हें उँगली पकड़कर सही मार्ग पर चलाता रहता है, जबकि बाक़ी लोग मोह-माया के अँधेरे में कुछ नहीं देख पाते, वे कभी इस कुएँ में गिर जाते हैं, तो कभी उस गड्ढे में:

सत संमुद्र समाइ लै भवजल अंदरि रहे निराला।
सते दीप अन्हेरु है गुरुमुखि दीपकु सबद उजाला।⁷²

गुरुमुख होने का अचूक प्रमाण यह है कि उसके हृदय में अनहद शब्द की ध्वनि बजती और जोत जगमगाती रहती है। इस अगम्य जोत का प्रज्वलित होना अभ्यासी का प्रभु के दर पर स्वीकृत होने का प्रमाणपत्र माना जाता है:

सचु नीसाणु अपारु जोति उजालिआ।⁷³

जिस समय सुरत-शब्द के अभ्यास से साधक के हृदय में प्रभु की जोत प्रकट हो जाती है, उस समय न केवल उसकी काया ही दैवी गुणों से संपन्न हो जाती है, बल्कि उसकी दृष्टि भी पारदर्शी हो जाती है। तीनों कालों में कुछ भी उससे छिपा नहीं रहता:

दिब देह दिब दिसटि होइ सबद सुरति दिब जोति उजाले।⁷⁴

इस समाधि के समय अंतर में जो बिजली जैसी चमक प्रकट होती है, वह ज्योति स्वरूप परमेश्वर का अपना ही प्रकाश है:

सहज समाधि साधु संगति जोती सरूप,
दामिनी चमतकार उनमन मानियै।⁷⁵

शब्द में सुरत को जोड़कर शब्द के प्रकाश से अपना मार्ग प्रकाशित किया जाता है और इस प्रकार प्रभु से मिलाप की मंज़िल तक पहुँचना संभव हो जाता है:

सचु सबद परगास करि सबद सुरति सचु सचु मिलाइआ।⁷⁶

प्रभुप्रीति का स्वाद चखने के बाद जिज्ञासु को और कोई रस नहीं भाता। उसकी जोत 'सोहं-सोहं' (जो तू है, सो मैं हूँ) की धुन में मग्न होकर परम जोत में समा जाती है:

प्रेम रस रसिक हूँ अनरस रहित हूँ,
जोति मैं जोति सरूप, सोहं सुरताने हूँ।⁷⁷

शब्द की करामात

चतुर लोग जब किसी अनजान आदमी को घर के काम के लिये नौकर रखते हैं तो पहले उसकी ईमानदारी की परीक्षा लेते हैं। जैसे धोने के लिये उतारी कमीज़ में पाँच-दस रुपये पड़े रहने दें या झाड़ू लगाने से पूर्व कमरे के किसी कोने में फेंक दें। यदि उसने शिकारी की तरह फेंके इस दाव पर हाथ मार लिया तो उसकी छुट्टी कर दी, नहीं तो उसे भला आदमी समझकर अपना विश्वासपात्र बना लिया। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ भी उस चोगे जैसी चीज़ें हैं। अध्यात्म मार्ग के साधारण यात्री ने कोई विशेष लंबा सफ़र तय न किया हो तो भी उसे परमात्मा के द्वार से कुछ असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जैसे, कोई मिलने आये और अभ्यासी को पता लग जाये कि उस व्यक्ति के आने का प्रयोजन क्या है। अब अगर आनेवाले के मुँह खोलने से पहले ही उसे बता दिया जाये कि तू इस काम के लिये आया है, तो वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता और अपने मन की बूझनेवाले को सिद्ध चमत्कारी महात्मा स्वीकार कर लेता है। दो-चार बार ऐसा चमत्कार दिखाने से अभ्यासी की ख्याति होने लगती है, उसे उपहार मिलने लगते हैं और वह सहज ही अहं के अजगर की लपेट में आ जाता है या लोभ के दलदल में फँस जाता है। किसी ऊँची मंज़िल की तो फिर उसे सुधबुध ही नहीं रह जाती।

परमेश्वर की दया से ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ और निधियाँ शब्द-अभ्यासी की दासियाँ बन जाती हैं और चार पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) उसके दासों के दास हो जाते हैं:

रिधि सिधि निधि सभ गोलीआं चार पदारथ गोइल गोले।⁷⁸

पर उनके लिये इन चीज़ों का कोई महत्त्व नहीं, रिध सिध अवरा साद॥⁷⁹ ऐसी प्राप्ति के बारे में गुरु साहिबान का दृष्टिकोण दर्शाने के लिये भाई गुरदास पहले पातशाह गुरु नानक साहिब का उदाहरण पेश करते हैं। सिद्धों से हुई मुलाक़ात के समय उन्होंने गुरु नानक साहिब को करामातों द्वारा प्रभावित करके अपने मत का समर्थक बनाना चाहा, पर गुरु नानक साहिब पर प्रयोग की गई ये करामातें कारगर सिद्ध न हुईं और अंत में सिद्धों को अपनी हार माननी पड़ी:

सिधि तंत्र मंत्रि करि झड़ि पए सबदि गुरू के कला छपाई।⁸⁰

यह सब इसलिये हुआ कि गुरु साहिब ने शब्द का कवच पहना हुआ था। आश्चर्यचकित हुए सिद्ध आपकी आत्मिक प्रगति की थाह लेने के उद्देश्य से पूछने लगे, तू खुद क्या-क्या करामातें दिखा चुका है, उनका नमूना हमें भी देखने का अवसर दे:

सिधि बोलन सुणि नानका तुहि जग नो किआ करामाति दिखाई।
कुझ विखालें असां नो, तुहि किउ ढिल अवेही लाई।⁸¹

गुरु साहिब का उत्तर था, सब करामातों की एक करामात 'शब्द' ही है, वह तुम स्वयं सुनकर देख लो। मेरे पास इस सच्चे नाम यानी शब्द के अलावा कोई अनोखी सत्ता नहीं:

बाबा बोले नाथ जी! सबदु सुनहु सचु मुखहु अलाई।
बाझो सचे नाम दे होरु करामाति असां ते नाही।⁸²

आपने यह भी कहा कि अगर मैं तुम्हारे सामने आग की पोशाक धारण करके बैठ जाऊँ या यह सिद्ध करने के लिये कि मुझ पर सख्त से सख्त सर्दों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, हिमालय में बर्फ़ का मकान बनाकर

बस जाऊँ या आम भोजन के स्थान पर केवल लोहे का आहार लेने लगूँ या पृथ्वी को ऐसी नकेल डालूँ कि वह अपने बने नियम के अनुसार सूर्य के चारों ओर घूमने के बजाय मेरे संकेतों पर नाचने लगे या अपनी काया को इतना विशाल बना लूँ कि धरती उसके दबाव के नीचे गेंद की भाँति लुढ़कती चली जाये या पृथ्वी और आकाश को तराजू के एक पल्ले में रखकर दूसरी ओर एक टंक (छः माशा का बाट) टिका दूँ और वह उन दोनों के बराबर हो जाये, या फिर किसी भी बड़े से बड़े या बलवान से बलवान मनुष्य को जो भी कोई आदेश दूँ वह उसका पालन करने के लिये तत्पर मिले—तो भी यह सारा आडंबर क्षण भर में लोप हो जानेवाले बादल की छाया जैसा तुच्छ होगा। वास्तव में चाहने और प्राप्त करने योग्य वस्तु इस प्रकार की ऋद्धियाँ या सिद्धियाँ नहीं, बल्कि सच्चा नाम यानी सच्चा शब्द है। सतनाम की शक्ति के सम्मुख सब करामातें तुच्छ हैं, निरर्थक हैं:

बसतरि पहिरौ अगनि कै बरफ हिमाले मंदरु छाई।
करै रसोई सारि दी सगली धरती नथि चलाई।
एवडु करी विथारि कउ सगली धरती हकी जाई।
तोली धरति अकासि दुइ पिछे छाबे टंकु चड़ाई।
इह बलु रखा आपि विचि जिसु आखा तिसु पासि कराई।
सतिनामु बिनु बादरि छाई॥⁸³

अगम दृष्टि

जब दीक्षा के अनुसार की गई साधना के फलस्वरूप अंतर में शब्द की जोत प्रकट हो जाती है, तो जिज्ञासु इस योग्य हो जाता है कि वह अपने ही अंदर दृष्टि डालकर देख ले कि वर्तमान में क्या हो रहा है, भूत में क्या बीत चुका है या भविष्य में क्या होनेवाला है? यह भी नहीं कि उसकी दृष्टि इस लोक में ही देखने के समर्थ हो। उससे किसी भी लोक का कुछ भी छिपा नहीं रहता:

सबद सुरत लिव जोति को उदोत भयो,
त्रिभुवन औ त्रिकाल अंतर दिखाए हैं।⁸⁴

सुरत-शब्द का पल्ला पकड़ने पर आश्चर्यजनक विश्वास पैदा हो जाता है, समदृष्टि प्राप्त हो जाती है, दिव्य जोत प्रकट हो जाती है, अनुभव हो जाता है, अविनाशी सुख और परमपद की प्राप्ति हो जाती है:

सबद सुरति सम दृसटि कै दिब्ब जोति,
सबद सुरति लिव अनभै अभ्यास है॥
सबद सुरति परमारथ परमपद,
सबद सुरति सुख सहज निवास है।
सबद सुरति लिव प्रेम रस रसिक है,
सबद सुरति लिव ब्रह्म बिस्वास है॥⁸⁵

पशुवृत्ति के बजाय गुरुमुखवृत्ति

कहा जाता है कि प्रेतों में पशुओं के समान कोई गुण नहीं होते, केवल अवगुण होते हैं; बल्कि उनसे कई गुना अधिक और वह भी बहुत बुरे। पिछले संस्कारों के कारण कुछ व्यक्ति मनुष्य होते हुए भी पशुओं या प्रेतों की प्रकृति लेकर पैदा होते हैं, इसलिये उनसे कोई भला नहीं हो सकता। उन्हें इनसान कहना इनसानियत का अपमान करना है। पर शब्द के अभ्यास का कमाल देखें कि यह इस प्रकार के जीवों को भी केवल अच्छा इनसान ही नहीं बनाता, बल्कि देवता बना देता है:

पसू परेतहुं देव करि साध संगति गुरु सबद कमाए।⁸⁶

वास्तव में विवेकी पुरुष वही होता है, जो सुरत-शब्द की साधना करता हो, शब्द की धुन सुनता हो। अगर कोई इस ओर से खाली है तो उसे पशुओं या प्रेतों में से ही एक मानो:

सबद सुरति सुनि समझि बोलै बिबेकी,
नातर* अचेत पसु प्रेत हूँ मैं एक है॥⁸⁷

संसारी से निरंकारी

सुरत जब शब्द से जुड़ जाती है तो साधक के सोचने का ढंग ही बदल जाता है। जिन सगे-संबंधियों के लिये वह जान तक देने से पीछे नहीं हटता था, उन रिश्तों का खोखलापन दिन की तरह उजागर हो जाता है। जिस धन-संपत्ति को प्राप्त करना उसने जीवन का मुख्य लक्ष्य बना रखा था, वह बिल्कुल निस्सार प्रतीत होने लगती है। कुर्सियों यानी पदों का मूल्य उसके लिये फूटी कौड़ी जितना भी नहीं रह जाता। अब उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है—प्रभु-प्रियतम का मिलाप:

दरस दरसि समदरस धिआन धारि,
सबद सुरति कै संसारी निरंकारी है॥⁸⁸

शब्द द्वारा सहज समाधि को प्राप्त सत्संगियों का समय विस्मयपूर्ण अवस्था में बीतता है। देह में रहते हुए भी देह के बंधन उन पर असर नहीं करते, वे जीते-जी मुक्त हो जाते हैं। वे किसी भी समय और स्थान में बिना रोकटोक विचरते हैं, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य उनके लिये एक खुली किताब जैसे होते हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता और वे ऊपर तथा नीचे के मंडलों में ऐसी सरलता से घूम लेते हैं जैसे कोई अपने बरामदे से उठकर आँगन में चला जाये:

बिसम बिदेह जग जीवन मुक्त भए,
त्रिभुवन औ त्रिकाल गंमिता प्रबीन है॥⁸⁹

* नहीं तो।

‘सबदु नीसाणु’

जिन दफ्तरों, कारखानों आदि में विशेष सुरक्षा का प्रबंध आवश्यक हो या जिनमें कार्य करनेवाले अधिकारियों को व्यर्थ के मिलने वालों की बाधा से बचाना हो, वहाँ उसी व्यक्ति को अंदर प्रवेश करने दिया जाता है जिसने इस उद्देश्य के लिये विशेष आज्ञापत्र (परमिट) बनवा रखा हो। संस्था के अपने कर्मचारी या फिर वे लोग, जिनका उससे प्रतिदिन काम पड़ता हो और जिनके चरित्र शंकाहित हों, संबंधित अधिकारी से एक ऐसा प्रवेशपत्र (कार्ड) बनवा लेते हैं जिसमें आसानी से पहचान के लिये उनकी प्रमाणित फोटो भी होती है। पहरे पर उपस्थित संतरी आनेवाले का पहचानपत्र देखता है और उसके प्रवेश के लिये बिना झिझक द्वार खोल देता है।

सतपुरुष के महल यानी उसके सचखंड में प्रवेश करने के लिये उसके दरवाजे पर केवल शब्द की पहचान, निशान या प्रमाणपत्र ही स्वीकार किया जाता है। जिस सुरत या आत्मा पर उसकी की हुई कमाई के कारण शब्द की मोहर लग गई हो, वह अपने मूल अर्थात् परमात्मा में लीन होने के योग्य मान ली जाती है:

सचु सबदु नीसाणु सुरति समाणीऐ।
इको दरि दीबाणु सबदि सिजाणीऐ॥⁹⁰

अनहद शब्द की धुन सुनाई देना अभ्यासी के प्रभु-मिलाप का अधिकारी स्वीकार कर लिये जाने का अकाट्य प्रमाण होता है। यह अलग बात है कि लाखों साईं लोगों या फ़क़ीरों में से कोई एक ऐसा मिलता है जो इस प्रकार की दया का पात्र बन गया हो:

साइर लख ढंढोल सबदु नीसाणीऐ॥⁹¹

सतगुरु दोनों लोकों का स्वामी होता है, इसलिये जिस सत्संगी के पास उसका दिया हुआ शब्द का आज्ञापत्र हो, उसके लिये सचखंड सहित सभी उच्च मंडलों के द्वार खुल जाते हैं:

सतिगुर सचा पातिसाहु साध संगति गुरु सबदु नीसाणा।⁹²

तथा:

दुही सराई सुरखरू सचु सबदु वजै नीसाना।⁹³

शब्द की मोहर मानो प्रतिभू या ज़ामिन बन जाती है कि संबंधित व्यक्ति श्रेष्ठ बुद्धि का मालिक है, गुरुमुख है:

गुरुमुखि पूरण मति सबदि नीसाणीऐ।⁹⁴

सुरत की सँभाल

हर व्यक्ति मौत से इतना क्यों डरता है? इसलिये कि जो कुछ उसके साथ आगे बीतनेवाला है, उसकी उसे रत्ती भर भी ख़बर नहीं होती यहाँ तक कि उसका छोटा-मोटा अनुमान भी नहीं लगता। इस जन्म में जान-बूझकर किये पापों का ख़याल तो मनुष्य को होता ही है, पर इनके अलावा न जाने कितने और पाप अनजाने भी हो गये होंगे (रे नर अचेत पाप ते डर रे) और फिर वे संचित कर्म, जो पिछले अनेकों जन्मों से इकट्ठे होते रहे हैं, उनका भी अंदाज़ा नहीं। पर चित्रगुप्त अपनी बही में न तो कुछ दर्ज करना भूलता है और न ही धर्मराज अपना फ़ैसला सुनाते समय कोई लिहाज़ करता है। इसलिये डर तो लगना ही है। पर यदि शब्द का अभ्यास किया हो तो फिर कोई डर या चिंता नहीं, क्योंकि सत्संगी को सतगुरु हाथ देकर बचा लेता है; उसकी ओर गरम हवा का झोंका भी नहीं आने देता:

गुरुमुखि सबद समाल सुरति समालीऐ।⁹⁵

शब्द की खोज : मिलाप का साधन

सतगुरु अपने शिष्यों को समझाते हैं कि सतपुरुष से मिलने का एकमात्र साधन शब्द की कमाई है और यह भेद उनसे ज़्यादा भला और किसे मालूम हो सकता है जो स्वयं ही सतपुरुष के रूप होते हैं:

पूरा सतिगुर सति गुरुमुखि भालीऐ।
पूरी सतिगुर मति सबदि सम्हालीऐ।⁹⁶

सतगुरु की शरण ग्रहण करने का उद्देश्य संसार-सागर के थपेड़ों से मुक्ति पाना है और यह उद्देश्य शब्द की कमाई से पूर्ण होता है:

गुरसिखी मिलि साध संगि सबद सुरति जगु दुतरु तरणा।⁹⁷

इस वाक्य का भाव स्पष्ट करते हुए भाई वीर सिंह लिखते हैं, “गुरु-सिखी (गुरु के शिष्य) साध-संगत में मिलकर शब्द सुरत से दुस्तर संसार-सागर को तर जाते हैं।”

अलख प्रभु को लखना

ऐसा कोई फल नहीं जो शब्द के अभ्यास द्वारा प्राप्त न हो सके; और तो और इसके द्वारा उस अलख पारब्रह्म को भी लखा जा सकता है:

अठे पहर अराधीऐ सबद सुरति लिव अलखु लखाइआ।⁹⁸

अगर गुरुमुख निरंतर शब्द का अभ्यास करता है तो उसे सत अर्थात् सतपुरुष का साक्षात्कार हो जाता है:

गुरुमुखि सबदु वीचारि सचि सिजाणीऐ॥⁹⁹

प्रभु-मिलाप : शब्द कीर्तन

सुरत का शब्द से जुड़ना और सुरत द्वारा एकाग्रभाव से आंतरिक शब्द धुन को सुनना ही वह कीर्तन है जो निरंकार से मिलाप करवा देता है:

सबद सुरति लिव कीरतनु सचि मेलि मिलाए।¹⁰⁰

यह मिलाप होता भी अत्यंत सुंदर है, जिसमें सुरत पूरी तरह और सदा के लिये शब्द में समा जाती है। यह मिलाप उस प्रकार का नहीं होता

जिस प्रकार किसी दीवार को कोई ईंट, मिट्टी और गारे की सहायता से जोड़ दी जाती है और आवश्यकता पड़ने पर उससे अलग भी की जा सकती है; बल्कि यह मिलाप किसी लहर के नदी में या नदी के सागर में समाने जैसा होता है:

सबद सुरति अवगाहन कै साध संग,
आतम तरंग गंग सागर लहर है।¹⁰¹

सचखंड में निवास

यथार्थ से अनजान लोग यदि किसी मृत व्यक्ति का नाम आदर से लेना चाहते हैं, तो वे उसके नाम के साथ 'स्वर्गवासी' शब्द जोड़ देते हैं। वे यह नहीं जानते कि स्वर्ग का निवास उसी प्रकार है जिस प्रकार मुसाफिर को जेठ की दोपहर में रेगिस्तान में पैदल सफ़र शुरू करने से पहले घड़ी दो घड़ी वातानुकूलित मुसाफिरखाने (प्रतीक्षालय) में बिताने का अवसर दिया जाये। जब जीव अपने किये हुए शुभ कर्मों का फल भुगत लेता है, तब उसे फिर योनियाँ भोगने के लिये भवसागर में बहा दिया जाता है।

किसी भी सांसारिक मनुष्य के लिये परमात्मा के सचखंड में निवास प्राप्त हो जाने जैसा कोई सौभाग्य सोचा नहीं जा सकता और शब्द की शरण लेनेवाला अभ्यासी निश्चय ही उसका अधिकारी बन जाता है:

सबद सुरति लिवलीणु होइ निरंकार सचखंडि निवासी।¹⁰²

सतगुरु पारस रूप होता है, वह परम सामर्थ्यवान पुरुष है। यदि लोहे, ताँबे जैसी तुच्छ धातु के समान नीच प्रकृति का शिष्य भी श्रद्धा सहित उसकी सेवा-पूजा में जुटा रहे, तो वह अपनी दया-मेहर द्वारा उसे अपने परम पवित्र स्पर्श से सोना बना देता है। इस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्वलित हो जाता है और अंत में ये दीपक दो स्वतंत्र इकाइयाँ भी नहीं रह जाते। शिष्य की जोत सतगुरु की जोत में समाकर उसके साथ मिल जाती है, जैसे कोई नदी समुद्र में मिलकर समुद्र ही बन जाती है:

गुरुमुखि पारसु होइ पूज कराइआ।
असट धातु इकु धातु जोति जगाइआ। ...
जोती जोति जगाइ दीपु दीपाइआ।
नीरै अंदरि नीरु मिलै मिलाइआ॥¹⁰³

शब्द: गुरु की दया द्वारा

अनहद नाद समसर नाद बाद कौन,
श्री गुरु सुनावै जाहिं, सोई लिव लावई॥¹⁰⁴

संसार में अनगिनत प्रकार के साज़ हैं और उनको बजानेवाले भी अनेक हैं। न कोई संगीत की धुनों की गिनती है और न उनको गानेवाले कलाकारों की ही। इस प्रकार का सांसारिक गाना-बजाना कोई दुर्लभ वस्तु नहीं। हम रेडियो और टेलीविज़न द्वारा ख्याति प्राप्त उस्तादों से कितना कुछ, बिना कुछ पल्ले से खर्च किये सुनते रहते हैं। अगर खर्च करने के लिये कुछ धन पास हो तो आप चाहे अपने मनपसंद राग के लिये घर की बैठक में विशेषज्ञों की सभा बुला लें। पर अनाहत या अनहद शब्द की बात अलग है। हमारे मायापूर्ण जगत का कोई भी संगीत न तो उस जैसा रसमय हो सकता है और न ही कल्याणकारी। पर इसे सुन लेना हर किसी के वश की बात नहीं है। पैसा या ओहदा जैसे किसी साधन से उस तक नहीं पहुँचा जा सकता। शब्द का अमृत तो वही चख सकता है, जिसे पूरा सतगुरु अपनी दया द्वारा इसके रस का स्वाद लेने और उससे कृतार्थ होने के योग्य बनाये।

शब्दगुरु

पूरा गुरु शब्द-स्वरूप होता है। साधारण शारीरिक रूप में नज़र आते हुए भी वह वास्तव में शब्द है। शब्द परमेश्वर का ही विस्तार है, इसलिये शब्द-स्वरूपी गुरु और पारब्रह्म परमेश्वर—एक साकार, दूसरा निराकार—वास्तव में भिन्न नहीं होते। भाई गुरदास के शब्दों में:

सबदि सुरति चेला गुरू परमेसरु सोई।¹⁰⁵

गुरु नानक साहिब ने फ़रमाया है, सबद गुरू सुरत धुन चेला॥¹⁰⁶ जो सतगुरु देह धारण करके प्रकट होता है, उसी का दूसरा रूप शब्द है:

गुरमूरति गुर सबदु है साध संगति विचि परगटी आइआ।¹⁰⁷

यद्यपि भक्ति परमेश्वर की ही करनी है, पर उससे किसी प्रकार का भी संपर्क संभव न होने के कारण उसके प्रति सीधे तौर पर गहरा प्यार पैदा नहीं हो सकता; जबकि उसके आम मनुष्यों जैसी देह धारण करने के कारण सतगुरु के प्रति इस प्रकार की प्रीति सहज ही जाग उठती है। उससे उपदेश लेकर उसकी शिक्षा के अनुसार अभ्यास करते हुए जब शब्द सुनाई देने लगता है तो उस शब्द को प्रभु का प्रकट रूप जानकर ही उसमें लिव जुड़ती है। ऐसे विश्वास के साथ उसकी संगति में बैठने का अवसर मिले, तो अभ्यासी को प्रतीत होता है कि वह सचमुच परमेश्वर के दरबार में बैठा है:

गुर मूरति गुर सबदु सुणि साधसंगति आसणु निरंकारी।¹⁰⁸

जब किसी मनुष्य को कोई बात समझानी हो, तब उसके साथ उसी बोली में बात संभव होती है जिस बोली को वह समझ सके। किसी बहरे व्यक्ति को कुछ सुनाई नहीं देता, लेकिन दिखाई देता है, अगर उसके साथ विचार-विमर्श करना हो तो हाथों या आँखों से संकेत करने के सिवाय और कोई चारा नहीं होता। इसी प्रकार जब परमेश्वर सांसारिक जीवों पर दयावान होता है, तब वह उनको शिक्षा देने के लिये तीन गुणों और पाँच तत्त्वों का मनुष्य-शरीर धारण करके आता है। इस कारण संत-सतगुरु देहरूप में चाहे हमारे जैसे साधारण मनुष्य लगते हैं, पर वास्तव में वे शब्द-स्वरूप होते हैं। हाड़-मांस का कलबूत (शरीर) उनको संसार के रंगमंच पर अपना पार्ट अदा करने के लिये ही धारण करना पड़ता है। गुरु और शब्द एक समान हैं, यह भेद साधुसंगति में आकर खुलता है:

गुरमूरति गुर सबदु है साध संगति समसरि परवाणा।¹⁰⁹

प्रभुप्राप्ति के लिये अभ्यास आवश्यक

परमात्मा के ऐसे प्रेमी बहुतायत से पाये जाते हैं, जो परमात्मा के विषय में अत्यंत उत्पुकता से स्थान-स्थान पर केवल पूछताछ करते फिरते हैं पर बताये मार्ग पर कभी चलते नहीं। उनमें से कोई विरला ही ऐसा होगा जो बताये हुए मार्ग पर चलने की कोशिश करे। ऐसे लोगों को भला परमात्मा कैसे मिल सकता है? सोचने की बात है कि अगर कोई रोगी वैद्य के पास जाकर उसकी दवा, पथ्य और परहेज़ के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करके भी उसकी दी हुई हिदायतों के अनुसार अपने इलाज की ओर ध्यान न दे, तो वह स्वस्थ होकर आराम का जीवन कैसे व्यतीत कर सकेगा? वह स्त्री जो किसी सुखी सुहागिन से पूछताछ द्वारा खूब अच्छी तरह जान जाये कि पतिव्रत का पालन कैसे किया जाता है, पर उसका मन पराये पुरुषों की संगति के लिये ललचाता रहे और उसके कर्म दुराचारियों जैसे हों, तो वह अपने पति की लाडली कैसे बन सकती है? इसी प्रकार अगर गुरु से दीक्षित होकर उनके हुक्म में रहते हुए दृढ़तापूर्वक अभ्यास न किया जाये, तो गाने या दूसरों के गाये-बजाये संगीत पर झूमने या आँखें मूँदकर समाधि का दिखावा करने से भला क्या लाभ होगा? जिस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिये उपदेश ज़रूरी है, उसी प्रकार परमपद की प्राप्ति के लिये अभ्यास भी आवश्यक है:

पूछत पथिक तिंह मारग न धारै पग,
प्रीतम कै देस कैसे बातन से जाईऐ।
पूछत है वैद खात औषधि न संजम सै,
कैसे मिटै रोग सुख सहज समाईऐ।
पूछत है सुहागनि कर्म है दुहागनि के,
हृदय बिभचार कत सेजा बुलाईऐ।
गाए सुणे आंखे मीचै पाईऐ न परम पद,
गुरु उपदेस गहि जौ लौ न कमाईऐ॥¹¹⁰

सतगुरु जब गुरुमंत्र की अनमोल दात बख्शाते हैं, तो साथ ही सच्चा और पवित्र जीवन जीते हुए उसके अभ्यास की शिक्षा भी देते हैं। यह समझ लेना कदापि उचित नहीं है कि सतगुरु ने एक बार बाँह पकड़ ली, तो हम जो मरज़ी करतूतें करते जायें, उसे तो हमें पार उतारना ही है। यद्यपि गुरु की ओर से दया-मेहर की कभी कमी नहीं रहती, पर अपनी ओर से उद्यम करना भी शिष्य का कर्तव्य है:

जैसे तिल बास, बास लीजीअत कुसम ते,
तां ते होत है फुलेल जतन कै जानीऐ॥
जैसे तउ अउटाइ* दूध जामन जमाइ मथि,
संजम सहत घृत प्रगटाइ मानीऐ॥
जैसे कूआ खोद करि बसुधा† धसाइ कोठी,
लाज कउ बहाइ डोल काढि जल आनीऐ॥
गुर उपदेस तैसे भावनी भक्त भाइ,
घट घट पूरन ब्रहम पहिचानीऐ॥¹¹¹

पहले तिलों को फूलों में मिलाकर उनकी सुगंधि तिलों में रचायी जाती है, फिर उनको पेरने पर फुलेल (सुगंधित तेल) प्राप्त होता है। घी जिसकी हम इतनी क्रूर करते हैं, दूध को उबालकर, जमाकर, दही बिलोकर, मक्खन गर्म करके तैयार किया जाता है। पानी चाहे परमात्मा के घर से प्राप्त हुआ अमूल्य उपहार है, तो भी उसके लिये कुआँ खोदना पड़ता है, ईंटों से कुएँ की दीवार बनाते हैं, दीवार को ज़मीन में धँसाते हैं, तब कहीं पानी रस्सी और डोल की सहायता से होठों तक पहुँचता है। वैसे ही अगर गुरु के मंत्र का अभ्यास निष्ठा, भक्ति, प्रीति और प्रतीति सहित किया जाये, तभी प्रत्येक हृदय में निवास करनेवाले परमेश्वर के साक्षात्कार की आशा रखी जा सकती है।

* उबालकर।

† धरती।

शब्द में समाने से आत्मा के सभी झंझट समाप्त हो जाते हैं, उसके कर्मों की तख्ती साफ़ हो जाती है, मन का जुआ गले से उतर जाता है, जन्म-मरण की चिंता शेष नहीं रहती, प्रभु से मिलाप निश्चित हो जाता है। पर शब्द में समा जाना क्षणों, पलों, घड़ियों या प्रहरों का खेल नहीं, उसके लिये दीक्षा के उपरांत निरंतर परिश्रम करना पड़ता है और साथ ही रज़ा (मौज) की प्रतीक्षा भी। हाँ, अगर जिज्ञासु स्वयं ही मनमुखता की ओर प्रवृत्त न हो तो इसमें संदेह नहीं कि अपने अभ्यास के फलस्वरूप वह शब्द में समा जाता है:

पेखत पेखत जैसे रतन पारुखु होत,
सुनत सुनत जैसे पंडित प्रबीन है॥
सूँघत सूँघत सौधा जैसे तउ सुबासी होत,
गावत गावत जैसे गाइन गुनीन है॥
लिखत लिखत लेख जैसे तउ लेखक होत,
चाखत चाखत जैसे भोगी रस भीन है॥
चलत चलत जैसे पहुँचै ठिकानै जाइ,
खोजत खोजत गुर सबदु लिव लीन है॥¹¹²

अगर किसी को विभिन्न प्रकार के रत्न बार-बार देखने का अवसर मिलता रहे, तो वह एक दिन अनुभवी जौहरी बन जाता है और अगर किसी विशेष विषय पर विचार और चर्चा सुनने या उससे संबंधित पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिलता रहे, तो उस विषय में प्रवीणता प्राप्त हो जाती है, उसका ज्ञान हो जाता है। हीरे-मोतियों की भाँति सुगंधियों के भी पारखी होते हैं। जो कोई उन्हें बार-बार सूँघता रहे, वह उनका विशेषज्ञ हो जाता है। इसी प्रकार संगीत का अभ्यास करनेवाला प्रवीण गवैया और लिखने की प्रक्रिया में लगा रहनेवाला लेखक बन जाता है। इसी तरह किसी पदार्थ (चाय, कॉफ़ी आदि) को बार-बार चखनेवाला उसके रस और स्वाद का माहिर बन जाता है। यात्री पूछताछ करके रास्ते की तसल्ली कर लेने के बाद उस पर चलता चला जाये, तो वह कभी न कभी अपनी मंज़िल पर पहुँच ही जाता है।

इसी प्रकार यदि विश्वास के साथ सुरत को शब्द से जोड़कर रखें, तो वह अवश्य ही उसमें लीन हो जाती है, स्वयं शब्द का रूप बन जाती है।

एकाग्रता और शब्द

मन के चंगुल में फँसी होने के कारण सुरत का फैले रहना स्वाभाविक है। यह नहीं कि वह कभी किसी एक विशेष बिंदु पर रुकना ही नहीं जानती। परंतु कोई दिलचस्प किताब पढ़ने, नाटक देखने, दूसरों के दोष देखने जैसे मनोरंजन में भले ही घंटों तक उलझी रहे, लेकिन अपने असल ठिकाने अर्थात् भृकुटियों के बीच 'तिल' पर आसानी से कभी स्थिर नहीं रहेगी। भटकने के लिये उसे अनेक बहाने मिलते हैं, एक के बाद एक अनगिनत विचार उठते हैं। उनका क्रम किसी पल खत्म नहीं हो पाता। जब तक ध्यान का यह बिखराव बना रहता है, तब तक शब्द की धुन निरंतर अंतर में बजती रहने के बावजूद भी सुनी नहीं जा सकती। जब सुरत को नौ द्वारों में से समेटकर नेत्रों के ऊपर, केंद्र (तीसरे तिल) पर एकाग्र किया जाता है तभी शब्द में लिव जोड़ना संभव होता है:

नव द्वार पार ब्रह्मासन सिंहासन मैं,
निज्झर झरन रुचित न अनरस है।¹¹³

शब्द धुन को सुनने से आंतरिक अनुभव खुल जाता है, हरि के मार्ग की सब रुकावटें दूर हो जाती हैं:

सुरति संकोचत ही, बज्जर कपाट खोल,
नाद बाद परै, अनहत् लिव लावई॥¹¹⁴

यद्यपि यह शब्द निरंतर गूँजता रहता है, फिर भी यह सुनाई तभी देता है जब गुरु से दीक्षित होकर एकचित्त उसे ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न किया जाये। ध्यान के थोड़े-से भटकने पर ही धुन का सुनाई देना बंद हो जाता है:

गुरमुखि इकु मनि इक धिआए॥¹¹⁵

इसलिये कई बार कहा जाता है कि शब्द को जिज्ञासु स्वयं आलाप रहा है या बजा रहा है:

सबद सुरति लिवलाइ अनहद वाइआ।¹¹⁶

पूर्ण एकाग्रता के साथ लिव जोड़ने की उत्तम विधि यह है कि निरत (जीवात्मा की अंतर्मुखी देखने की शक्ति) गुरु के स्वरूप से और सुरत (उसकी अंतर्मुखी सुनने की शक्ति) गुरु के शब्द से जुड़ी हो:

दृष्टि दरस अरु सबद सुरति मिलि,
पूर्ण ब्रह्म ज्ञान ध्यान लिव लावही।¹¹⁷

विश्वास की आधारशिला

'परमात्मा है या नहीं?' शिक्षित, अशिक्षित अनेक लोगों के लिये यह एक विकट प्रश्न बना रहता है। इस प्रश्न के उत्तर के लिये वे ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि पर निर्भर करते हैं, पर इनमें से किसी की भी उस अगोचर सत्ता तक पहुँच नहीं है। आध्यात्मिक जगत के महापुरुषों ने बार-बार ऊँची आवाज़ में कहा है, "वह है, वह है", पर जब तक जिज्ञासु स्वतंत्र रूप से अपनी तसल्ली न कर ले, तब तक उसे विश्वास कैसे आये? ऐसे विश्वास को उत्पन्न करानेवाली एक ही चीज़ है - अनहद शब्द यानी परमात्मा की स्वयं बजाई धुन, इसलिये विश्वास तभी होगा यदि उसे सतगुरु की दया से सुन लिया जाये, गुरमुख सबद पछाणीऐ ...॥¹¹⁸ भाई गुरदास कहते हैं:

सबद सुरति लिव बज्र-कपाट खुले,
अनहद नाद बिसमाद को बिस्वास है।¹¹⁹

शब्द में सुरत जुड़ने से अज्ञान के वज्र जैसे सख्त किवाड़ खुल जाते हैं और जब अनहद की धुन, जो प्रभु की अपनी आवाज़ है, सुनाई देती है, तो प्रभु के अस्तित्व के बारे में कोई भ्रम नहीं रह जाता।

एक अन्य स्थान पर भाई साहिब ने कहा है कि जब गुरु से उपदेश लेकर पूरे प्रेम से शब्द की कमाई की जाती है, फिर मन में कोई दुबिधा बाक़ी नहीं रहती और बुद्धि के दोष दूर हो जाते हैं:

दुरमति दुबिधा दूरि करि गुरमति सबद सुरति मन सिता।¹²⁰

केवल लिखना, पढ़ना, गाना

भाई साहिब ने मयखाने का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार मटका जिसमें शराब सँभालकर रखी जाती है, पैमाना, जिसके द्वारा वह पीनेवालों को बाँटी जाती है और दुकानदार जो उसकी बिक्री करता है, उस शराब के नशे की ओर से अनजान रहते हैं, उसी प्रकार कितने ही लोग हैं जो गुरु के उपदेश की महिमा लिखते, पढ़ते और गाते रहते हैं, पर लिखने, पढ़ने और गाने से ही उन्हें शब्द का अमृत रस पीने को नहीं मिल जाता और न ही वे आत्मपद के पात्र बनते हैं। इसके लिये सतगुरु की दया के साथ अपना उद्यम भी चाहिये:

जैसे अहिर्निशि मद रहत भांजन बिषय,
जानत न मरम किधौं कवन प्रकारी है।
जैसे बेली भरि भरि बांट दीजीयत सभा,
पावत न भेद कछु बिधि न बिचारी है।
जैसे दिन प्रति मद बेचत कलाल बैटो,
महिमा न जानई दरब हितकारी है॥
तैसे गुर शब्द को लिख पड़ गावत है,
बिरलो अमृतरस पद अधिकारी है॥¹²¹

सांसारिक बाजे

अनहद शब्द में लिव जोड़ने के लिये सांसारिक बाजों से ऊपर उठना आवश्यक है:

नाद बाद परै, अनहत् लिव लावई॥¹²²

जब तक सांसारिक संगीत के रस की ओर रुचि रहती है, तब तक अनहद शब्द का अमृत पीने को नहीं मिलता:

जौ लौ नाद बाद, न अनाहद् बिसेखियै॥¹²³

संसार के संगीत में लिप्त होना मनुष्य के लिये उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार मृग के लिये मृदंग का संगीत, जिस पर मोहित होकर वह शिकारियों के हाथों मारा जाता है:

घंडा हेड़ा मिरग जिउ दीपक होइ पतंग जलावै।¹²⁴

शब्द-सुरत बिन बहरा

जिस व्यक्ति ने एकाग्रता के साथ शब्द में लिव जोड़कर सतगुरु की दीक्षा के अनुसार शब्द नहीं सुना, वह इन बाहरी कानों के सक्रिय होने पर भी बहरा है, क्योंकि जो कुछ वास्तव में सुनने योग्य है, उससे तो वह कोरा ही रह जाता है:

सबद सुरति सावधान होइ विणु गुर सबद न सुणई बोला।¹²⁵

शब्द-सुरत का अभ्यासी विरला

शारीरिक कानों से सुने जा सकनेवाले रागों, नादों की धुन सुनने का तो हर किसी को अवसर मिल जाता है, पर जो शब्द-सुरत द्वारा अनुभव किया जाता है, उसका रस लेने की युक्ति किसी विरले अभ्यासी को ही आती है:

राग नाद सभ को सुणै सबद सुरति समझै विरलोई।¹²⁶

अंतकाल का सुमिरन

लाखों में से किसी विरले सौभाग्यशाली व्यक्ति को छोड़कर प्रायः प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक ही पिटी-पिटाई लकीर पर लुढ़कता चला जाता है। उसका प्रातःकाल (किशोरावस्था) पढ़ाई-लिखाई द्वारा रोज़गार के योग्य

होने में बीत जाता है, दोपहर (जवानी) धन कमाने और उसे भोगने में; सायंकाल (मध्यकाल) छोटा-बड़ा मकान बनवाने, बच्चों को पढ़ाने, उनकी शादी करने, अपने पाँव पर खड़ा करने में; और जब परछाईं ढलकर (बुढ़ापा) रात (मृत्यु) निकट दिखाई देती है, नौकरी समाप्त हो चुकी होती है, ज़मीन, दुकान, कारोबार आदि को पुत्र और पौत्र सँभाल लेते हैं, शरीर का बीमारियों के शिकार हो जाने के कारण इंद्रियों के स्वाद ख़त्म हो जाते हैं, तब मन करता है कि परमात्मा को याद करके आगे-पीछे के पाप और गुनाह बख़्शावा लें, स्वर्ग-बैकुंठ में प्रवेश करने के अधिकारी बन जायें।

पर उस समय पाप कमाने में बेकार हो चुकी काया नेकी प्राप्त करने के योग्य भी नहीं रहती। कुबड़े जैसी कमान बनी रीढ़, शिथिल बेजान हुई मांसपेशियाँ और छोटे-बड़े जोड़ों के पीड़ायुक्त होने से भजन के लिये नहीं बैठा जा सकता। कई वर्षों तक पग-पग पर की गई मूर्खता के पश्चात्ताप से जर्जर और अनेक कामनाओं की तृप्ति के लिये किये गये अनगिनत उपायों के बावजूद अतृप्त रही कामनाओं का सताया हुआ मन, नाम (शब्द) से लिव जोड़ने लायक बल जुटाये तो कैसे? इस संबंध में भाई गुरदास की चेतावनी विचार करने योग्य है:

जैसे घरि लागै आगि जागि कूआ खोदयो चाहै,
कारज न सिद्धि होय रोय पछुताईऐ।
जैसे तौ संग्राम समय सीखियो चाहै बीर बिद्या,
अन्यथा उद्यम जैत पदवी न पाईऐ।
जैसे निसि सोवत संगती चल जात,
पाछै भोर भए भार बांध चले कत जाईऐ।
तैसे माया धन्ध अन्ध अवधि बिहाय जाइ,
अन्तकाल कैसे हरिनाम लिव लाईऐ॥¹²⁷

अगर कोई अपने मकान में आग लगने के बाद आँखें मलता हुआ उठे और चाहे कि अब कुआँ खोदकर उसके पानी से तबाही मचानेवाली ज्वाला

को बुझा लूँ, तो वह सफल नहीं होगा। वह रोता और पछताता ही रह जायेगा। यदि व्यक्ति युद्ध शुरू हो जाने के बाद उसके लिये आवश्यक शस्त्रविद्या सीखने के विषय में विचार करे, तो उसका यह प्रयत्न उसे विजयी होने का सम्मान नहीं दिला सकेगा। अगर कोई यात्री प्रातःकाल अपने क्राफ़िले का डेरा समेटने के समय तो आराम से सोया रहे और बाद में दोपहर को गठरी सिर पर रखकर पैदल दौड़ना शुरू करे, तो वह अपने ऊँटसवार साथियों से नहीं मिल पायेगा। बस, यही बात प्रभुभक्ति की है। जिसने अपनी सारी आयु संसार के धंधों में व्यर्थ गुज़ार ली, वह भला मौत के दरवाज़ा खटखटाने के समय नाम के सिमरन में अपनी वृत्ति कैसे जोड़ सकेगा*?

* भजहो गोबिंद भूल मत जाहो॥ मानस जनम का एही लाहो॥
जब लग जरा रोग नही आइआ॥ जब लग काल ग्रसी नही काइआ॥
जब लग बिकल भई नही बानी॥ भज लेह रे मन सारिगपानी॥
अब न भजस भजस कब भाई॥ आवै अंत न भजिआ जाई॥
जो किछ करह सोई अब सार॥ फिर पछुताहो न पावहो पार॥¹²⁸

4

आदर्श शिष्य



भाई गुरदास एक आदर्श शिष्य थे। आप उन गुरु साहिबान के निकट रहे जिनका संसार में आने का उद्देश्य ऐसे जीवों के लिये प्रकाश-स्तंभ बनकर मार्ग दिखाना था जो विषय-विकारों और दुष्कर्मों में लगकर अपना अमूल्य मनुष्य-जन्म व्यर्थ गँवा रहे थे। भाई साहिब ने उन महापुरुषों का जीवन सच्चे उदाहरण के रूप में उनके चरणों में बैठकर देखा, सुनहरे अक्षरों में लिखे जाने योग्य उनके उपदेश का एक-एक वाक्य श्रद्धा और विश्वास से सुना और अपने जीवन का श्वास-श्वास उनकी खींची हुई लकीरों पर क्रदम बढ़ाकर चलते हुए सफल किया। यही कारण है कि जो मार्गदर्शन हमें उन जैसे कला कुशल पुरुष की रसपूर्ण वाणी से मिलता है, उसका मुक्ताबला नहीं।

आपके कथनानुसार गुरु का सच्चा शिष्य अमृत वेला (प्रातःकाल) में जागकर नाम के अभ्यास (सुरत-शब्द के अभ्यास) में जुट जाता है। वह अपना अधिक से अधिक समय प्रभु की आराधना में बिताने के उद्देश्य से अल्प आहार करता है, कम सोता है और बिना विशेष कारण के ज़बान नहीं खोलता। उसके मुँह से निकले शब्दों में मिठास होती है, वह किसी का दिल नहीं दुखाता और उसका व्यवहार अहंकाररहित और नम्रतापूर्ण होता है। वह हक्र-हलाल की नेक कमाई से अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करता है और यथाशक्ति अन्य आवश्यकताओं को भी पूरा

करता है। वह चाहे कितना धनवान हो जाये या उच्च पद प्राप्त कर ले, फिर भी अपनी प्राप्ति की डींग नहीं मारता और किसी पर रोब नहीं डालता। साधुजनों की संगति में हाज़िर रहने से गुरु की शिक्षा उसके मन में घर कर जाती है और उसका हृदय गुरु के प्रेम से प्रफुल्लित रहता है। अपने इन नेक कार्यों के बदले में वह किसी सांसारिक फल की आशा नहीं रखता:

पिछल रातीं जागणा नामु दानु इसनानु दिड़ाए।
मिठा बोलणु निव चलणु हथहु दे कै भला मनाए।
थोड़ा सवणा खावणा थोड़ा बोलनु गुरमति पाए।
घालि खाइ सुक्रितु करै वडा होइ न आपु गणाए।
साधसंगति मिलि गावदे राति दिहै नित चलि चलि जाए।
सबद सुरति परचा करै सतिगुरु परचै मन परचाए।
आसा विचि निरासु वलाए *॥¹

गुरु का शिष्य बनने के अभिलाषी के लिये सबसे पहला उठानेवाला क्रदम गुरु से दीक्षा लेना होता है। दीक्षाविहीन व्यक्ति शिष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। गुरु की शिक्षा पर अमल करने और उसके अनुसार अभ्यास करने के फलस्वरूप गुरु के शुभ गुण शिष्य में स्वयं आ जाते हैं:

गुर चेला चेला गुरु गुर सिख सुणि गुर सिखु सदावै।²

इस दीक्षा द्वारा उसे सुरत द्वारा अनहद शब्द में लिव जोड़ने की युक्ति सिखाई जाती है:

गुरसिखी दा सिखणा सबदि सुरति सतिसंगति सिखै।³

साथ ही उसे गुरु और उसकी संगत की सेवा करने का उपदेश दिया जाता है:

* रहता है।

गुर सिखी दा सिखणा गुरमुखि साध संगति दी सेवा।⁴

गुरु का शिष्य ग्रंथ-पोथियों में दर्ज किये या अन्य लोगों से सुने-सुनाये किसी नाम, स्तोत्र आदि का जाप नहीं करता, उसका सिमरन अपने सतगुरु से मिले गुरुमंत्र का होता है:

गुरसिखी दा सिमरणो सतिगुरु मंतु कोलू रसु इखै।⁵

नाम की कमाई में सफलता तब मिलती है, जब मन पर काबू पा लिया जाये, जब इंद्रियों के रस और संसार की समस्याओं तथा उलझनों में दिलचस्पी समाप्त हो जाये:

इक मनि इकु अराधणा बाहरि जांदा वरजि रहावै।⁶

गुरु के आदर्श शिष्य का एक अन्य लक्षण उसका परोपकारी होना है। पानी चाहे कितना ही गर्म या उबलता हुआ हो, आग पर फेंकने पर उसे शांत कर देता है। शिष्य स्वयं कठिनाइयाँ सहन करते हुए भी दूसरों के कार्य सँवारने के लिये तत्पर रहता है:

अग्नि बुझाए तपति विचि ठंढा होवै बिलमु न आणी।
गुरु सिखी दी एह नीसाणी॥⁷

उसका जप-तप और संयम निर्भय परमेश्वर के भय में जीना और अन्य हर प्रकार के डर से मुक्त रहना ही है:

गुरसिखी दा संजमो डरि निडरु निडरि मुच डरणा।⁸

उसका कीर्तन सुरत-शब्द के अभ्यास द्वारा अपने अंतर में निरंतर उठनेवाली शब्द की धुनकार को सुनना और उसकी अमृत जैसी मीठी अनाहत धुन के संगीत का आनंद लेना है:

गुरसिखी दा गावणा अंग्रित बाणी निझरु झरणा।⁹

वह आपाभाव मिटाकर अपने अस्तित्व को अपने शब्दरूप गुरु के अस्तित्व में इस प्रकार विलीन कर देता है जिस प्रकार एक मृतक शरीर (शव) अपनी क्रब्र में खो जाता है। इस मार्ग पर चलकर वह भी अपने इष्ट की तरह अलख और कर्मों के लेखे से बाहर हो जाता है:

मुरदे वांगु मुरीद होइ गुर गोरी वड़ि अलख अलेखै।¹⁰

गुरु के शिष्य को गुरु से प्राप्त दीक्षा की क्रद्ग तब होती है जब वह गुरु के उपदेश की कमाई करके अपने हृदय में परमेश्वर की परम जोत को प्रज्वलित कर लेता है अर्थात् उस जोत को प्रकट कर लेता है:

गुर सिखी दा समझणा जोती जोति जगावणहारा।¹¹

गुरु गोबिन्द सिंह जी ने भी इस प्रकार कहा है:

पूरन जोत जगै घट मै तब खालस ताहि नखालस जानै॥¹²

इस जोत में प्रकाश ही नहीं, धुन भी होती है और जब वह सुनाई देती है तो संसार की रसीली राग-रागिनियाँ भी निरा शोर लगने लगता है:

गुर सिखी दा नादु सुणि लख अनहद विसमाद अलेखै।¹³

सच्चा शिष्य

सच्चा मुरीद या शिष्य केवल बातचीत से नहीं बना जा सकता। इसके लिये उसे अपना तन, मन और धन गुरु को अर्पण करना यानी अपनी खुशी को खत्म कर देना पड़ता है। शिष्य के लिये सदा संतुष्ट रहना आवश्यक है। उसे श्रद्धालु, जान तक न्योछावर कर देने के लिये तत्पर और हर प्रकार के भय, भ्रम और शंकाओं से मुक्त होना चाहिये। वह साधारण पेशेवर की तरह सेवा नहीं करता कि जितनी मज़दूरी मिली उसके अनुसार मालिक का काम कर दिया। वह तो मानो मोल खरीदा हुआ दास होता है, जिससे उसका स्वामी जो चाहे, जब भी चाहे करवाये। दास की ओर से कभी

‘किंतु-परंतु’ नहीं होता। वह यह कभी नहीं कहेगा कि मैं अब जा रहा हूँ, मेरा भोजन का समय हो गया या मुझे नींद सता रही है, आराम करना है, आदि। वह चाहता है कि गुरु के प्रसाद के लिये आटा पीसे, हाथों से स्वयं पानी लाये, सावधान रहकर पंखा डुलाये, प्रेम सहित चरण धोये और स्नान कराये। श्रद्धालु शिष्य, सतगुरु की हुजूरी में खिलखिलाकर हँसने की धृष्टता नहीं करता, न वह सिसकियाँ लेकर रोता है। हर्ष हो चाहे शोक, हर सूरत में उसकी मुद्रा सत्कारपूर्ण रहती है।

इस प्रकार की साधुवृत्ति अपनानेवाला शिष्य कुलमालिक के द्वार पर स्वीकार हो जाता है और वह सदा प्रेमास का आनंद लेता रहता है। सतगुरु की दया से उसकी साधना उसी प्रकार सफल होती है जिस प्रकार दूज का हँसिया जैसा इकहरा चंद्रमा पूर्णमासी की रात में पूर्णता को प्राप्त हो जाता है:

मुरदा होइ मुरीदु न गली होवणा।
 साबरु सिदक सहीदु भरम भउ खोवणा।
 गोला मुलि खरीदु कारे जोवणा।
 ना तिसु भुख न नीद न खाणा सोवणा।
 पीहणि होइ जदीद पाणी ढोवणा।
 परखे दी तागीद पग मलि धोवणा।
 सेवक होइ संजीदु न हसण रोवणा।
 दर दरवेस रसीदु पिरम रस भोवणा।
 चंद मुमारख ईद पुग खलोवणा॥¹⁴

शिष्य का एकमात्र सहारा

सच्चा शिष्य एकमात्र गुरु का आसरा लेता है। वह किसी अन्य के सहारे के बारे में सोचता भी नहीं। भाई गुरदास जी कहते हैं:

लोग बेद ज्ञान उपदेस है पतिव्रता कौ,
 मन बच कर्म स्वामी सेवा अधिकार है।

नाम स्नान दान संयम न जाप ताप,
 तीर्थ व्रत पूजा नेम ना तकार* है।
 होम यग भोग नईबेद नहीं देवी देव सेव,
 राग नाद बाद न सम्बाद आन द्वार है।
 तैसे गुर सिखन में एक टेक ही प्रधान,
 आन ज्ञान ध्यान सिमरण बिबचार है॥¹⁵

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री का एक ही धर्म होता है: मन, वचन और कर्म से हर प्रकार अपने प्रियतम की सेवा करना, उसकी आज्ञा का पालन करना। इस कर्तव्य को निभाने के लिये उसे न किसी जप या पाठ की विवशता होती है, न किसी दान या व्रत की, न तीर्थयात्रा, संयम या कर्मकांड की। उसके लिये किसी और देवी-देवता या इष्ट की प्रसन्नता के लिये किया होम या यज्ञ महत्त्वहीन हो जाता है। उसका किसी अन्य पुरुष के द्वार पर जाना, मूल रूप से वर्जित होता है। इसी प्रकार सच्चे शिष्य के लिये अपने गुरु से मिली शिक्षा और उसके बताये सिमरण, ध्यान और भजन को छोड़ किसी और के पीछे लगकर किसी भी प्रकार के कर्मकांड में व्यस्त होना एक पतिव्रता के अपने सच्चे धर्म से गिर जाने के समान है।

सच्चे गुरु के शिष्य का जीवन जेल के कैदियों जैसी पाबंदियों से जकड़ा नहीं होता। अगर पतिव्रता का पवित्र धर्म है कि वह अपने पति, बाल-बच्चों, माता-पिता, मित्रों, सज्जनों और बाक़ी परिवार की सेवा करे, उनके लिये भोजन बनाये, उनके वस्त्र धोये, संतान को जन्म दे और अन्य संबंधियों के प्रति फ़र्ज निभाये, फिर तो उसे साथ ही यह अधिकार भी है कि वह सुख से जीने के लिये अच्छे वस्त्र पहने, चाहे तो साज-शृंगार भी करे। इसी प्रकार अपनी गृहस्थी निभाना गुरु के शिष्य के लिये भी कोई पाप नहीं होता, उसके लिये कोई अपनी तरफ़ से देनदारी पैदा नहीं होती।

* नहीं ताकती अथवा नत+कार=नहीं करने योग्य।

हाँ, शर्त यह है कि वह अपने सतगुरु का ही सहारा ले, किसी और का आसरा लेकर अपना जन्म बरबाद न करे:

जैसे पतिव्रता को पवित्र घर वास नात,
असन बसन धन धाम लोकाचार है।
तात मात भ्रात सुत सुज्जन कुटुम्ब सखा,
सेवा गुरजन सुख अभरण शिंगार है।
कृत वृत्ति प्रसूत मल मूत्र धारी,
सकल पवित्र जोई बिबिधि अचार है।
तैसे गुर सिखन को लेप न गृहस्थ में,
आन देव सेव धृग जनम संसार है॥¹⁶

कर्तव्य, करनी

शिष्य के कर्तव्य और करनी के संबंध में इतना कुछ बताने पर भी भाई साहिब को तृप्ति नहीं हुई; अपने कथन का अधिक विस्तार करते हुए आपने एक पौड़ी में फ़रमाया है कि शिष्य को अपना सब कुछ गुरु को भेंट करके उनके चरणों की धूलि बन जाना चाहिये। इसके बाद गुरु के स्वरूप का प्रेमपूर्ण ध्यान करना, उसे उस अवस्था में पहुँचा देता है जिसका 'जीवित मरना' कहकर वर्णन किया गया है। जब शिष्य के ऊपर गुरु के सच्चे प्रेम का मजीठी रंग चढ़ता है, तो वह हर प्रकार के मोह-माया के बंधनों से ऊपर उठ जाता है। गुरु की शरण उसे ऐसा भरोसा और विश्वास प्रदान करती है कि वह अन्य किसी देवी-देवता का ध्यान नहीं करता। जो प्रेम का प्याला उसे गुरु के दर से पीने को मिलता है, उसे ही सही अर्थों में अमृत कहा जा सकता है। शिष्य गरीबी या नम्रता का कवच पहन लेता है और यह कवच उसकी हर आघात से रक्षा करता है। कोई विषय-वासना उसे मोहित नहीं कर पाती और वह बिना अडोल सहज अवस्था को प्राप्त कर लेता है। गुरु की आज्ञा में जीवन बिताने का एक फल यह भी होता है कि उसके मन की चंचलता दूर हो जाती है और उसका ध्यान स्थिर होकर अपने लक्ष्य पर

टिक जाता है। ऐसी रहनी में मर्यादा का पालन करते हुए और स्थिर होकर सुरत-शब्द का अभ्यास पूरा करके वह भवसागर से पार हो जाता है:

पैरी पै पाखाकु मुरीदै थीवणा।
गुर मूरति मुसताकु मरि मरि जीवणा।
परहरि सभे साक सुरंग रंगीवणा।
होर न झखणु झाक सरणि मनु सीवणा।
पिरम पिआला पाक अमिअ रसु पीवणा।
मसकीनी अउताक असथिरु थीवणा।
दस अउराति तलाक सहिज अलीवणा।
सावधान गुर वाक न मन भरमीवणा।
सबद सुरति हुसनाक पारि परीवणा॥¹⁷

गुरुमुख हवा, पानी, आग आदि पाँच तत्त्वों की बंधनकारी जकड़ से छुटकारा पा लेता है। काम, क्रोध की पैदा की हुई रुकावटें उसके मार्ग से दूर हो जाती हैं और लोभ, मोह, अहंकार भी उसका कुछ बिगाड़ सकने में समर्थ नहीं होते। सत्य, संतोष, दया, धर्म, धैर्य जैसे दैवी गुण धारण करने के कारण वह एक पवित्र पुरुष माना जाने लगता है। श्वास भरना, रोकना, निकालना – प्राणायाम की इन क्रियाओं से उसका कोई संबंध नहीं रहता, वह तो उन्मनी अवस्था से भी आगे निकल जाता है और उस ठिकाने पर पहुँच जाता है जहाँ न मन की रसाई होती है और न ही वाणी की। ऐसे पावन पुरुष के हृदय में स्वयं परमेश्वर आ बसता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अंतर में अनहद धुन की गरज। जो शोभा उसे अपने मन और इंद्रियों को वश में करने से प्राप्त होती है, उसका सेहरा सतगुरु के सिर पर बाँधता है। क्योंकि अगर वह सतगुरु के चरणों में न लगा होता, तो यह सफलता उसे कदाचित प्राप्त न होती। अब उसका समय मायापूर्ण धंधों में व्यस्त रहने के बजाय सहज समाधि में बीतता है और शरीर त्यागने के बाद उसका फिर से जन्म नहीं होता:

पउणु पाणी बैसंतरो धरति अकासु उलंघि पइआणा।
 कामु क्रोधु विरोधु लंघि लोभु मोहु अहंकारु विहाणा।
 सति संतोख दइआ धरमु अरथु सु ग्रंथ पंच परवाणा।
 खेचर भूचर चाचरी उनमन लंघि अगोचर बाणा।
 पंचाङ्ग परमेसरो पंच सबद घनघोर नीसाणा।
 गुरुमुखि पंच भूआतमा साध संगति मिलि साध सुहाणा।
 सहज समाधि न आवण जाणा॥¹⁸

सच्चा शिष्य गुरु के उपदेश को अपनाकर अर्थात् दीक्षा लेकर मर्यादा के अनुसार उसके चरणों में नमस्कार करता है और उनकी धूलि से अपने मस्तक का शृंगार करता है। गुरु की शरण में रहते हुए वह हर प्रकार की शंकाओं और भ्रमों से छुटकारा पा लेता है और अपने अहं को मारकर निष्काम बन जाता है। प्रारंभ में वह कर्मों के लेख के अधीन और कामकाज का दास था, पर अब गुरु द्वारा सम्मानित वह कर्मों के लेख से रहित हो जाता है, क्योंकि हिसाब देने के योग्य उसके कोई कर्म बचे नहीं रहते। उसके अंतर में शब्द की ऐसी जोत जल उठती है कि उसके प्रकाश की बराबरी लाखों चंद्र-सूर्य मिलकर भी नहीं कर सकते। सत्संगति परमेश्वर का रूप होती है, इसलिये वह सतगुरु के चरणकमलों की पूजा करता है और अंत में सतपुरुष में जा मिलता है। गुरु के चरणों से लिपटा हुआ शिष्य उसी प्रकार आनंद प्राप्त करता है जिस प्रकार कमल की गोद में आ बैठा भँवरा:

गुरु उपदेस अवेस करि पैरी पै रहरासि करंदे।
 चरण सरणि मसतकु धरनि चरन रेणु मुखि तिलक सुहंदे।
 भरम करम दा लेखु मेटि लेखु अलेखु विसेख बणंदे।
 जगमग जोति उदोतु करि सूरज चंद न लख पुजंदे।
 हउमै गरबु निवारि कै साध संगति सच मेलि मिलंदे।
 साध संगति पूरन ब्रह्मु चरण कवल पूजा परचंदे।
 सुख संपटि होइ भवर वसंदे॥¹⁹

गुरु के स्वरूप का दर्शन करने से सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, इसलिये वह इस दर्शन को ही सब दर्शनों (मतों) का एक दर्शन मानता है। दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाने पर उसे सतगुरु के उपदेश में ही सब लौकिक और पुस्तकों का ज्ञान मिल जाता है:

गुरु दरसनु परसण सफल छिअ दरसनु इक दरसनु जाणै।
 दिब दिसटि परगासु करि लोक वेद गुरु गिआनु पछाणै।²⁰

सतगुरु की संगति से मिली दिशा के अनुसार जब शिष्य की सुरत, अनहद शब्द से जुड़ती है तो उसकी अभ्यास में हुई उन्नति के अनुसार उसे अलग-अलग मंज़िलों या पड़ावों पर पाँच प्रकार के शब्द बारी-बारी से सुनने को मिलते हैं। वास्तव में ये शब्द एक ही सत शब्द के विस्तार होते हैं और अंतिम मंज़िल पर उस एक ही शब्द में बदल जाते हैं। शिष्य बाहरी कानों से सुने जानेवाले संगीत में कोई रुचि नहीं रखता, क्योंकि उससे झगड़े ही पैदा होते हैं (राग और रागिनियों के बारे में हर एक की अपनी-अपनी पसंद जो होती है)। इस गुरुमुख का ध्यान प्रेमपूर्वक उस सहज शब्द की अगम धुन में लगा रहता है, क्योंकि उसे पता होता है कि धुन को बजानेवाला स्वयं उसका प्रभु ही है। इस प्रकार इस शब्द धुन में यानी कर्तापुरुष की अपनी पुकार में वृत्ति जुड़ जाने के कारण उसकी न किसी के बड़े होने में दिलचस्पी रहती है और न किसी के छोटे होने में। पर गुरु के उपदेश के अमृत में सराबोर होकर वह जो बोल भी मुँह से निकालता है, मीठा ही निकालता है और वह सबको भाता है:

सबद सुरति लिव साध संगि पंच सबद इक सबद मिलाए।
 राग नाद लख संबाद लखि भाखिआ भाउ सुभाउ अलाए।
 गुरुमुख ब्रह्म धिआनु धुनि जाणै जंत्री जंत्र वजाए।
 अकथ कथा वीचारि कै उसतति निंदा वरजि रहाए।
 गुरु उपदेसु अवेसु करि मिठा बोलणु मन परचाए।²¹

गुरु का आदर्श शिष्य आसा-मनसा को त्यागकर, आपाभाव मिटाकर दुनिया की ओर से मर जाता है:

गुरु सिखी दा जीवणा जीवदिआं मरि हउमै खोवै।²²

यह मरना माया के प्रति मरना है। इस मरने से शारीरिक मौत नहीं होती, बल्कि एक नया जीवन शुरू होता है। शिष्य का अब गुरु के घर जन्म हो जाता है:

सतगुर कै जनमे गवन मिटाइआ॥²³

शिष्य अंत में शब्द में समाकर शब्द का ही रूप हो जाता है:

साध संगति गुर सबद समेवा॥²⁴

नम्रता

जहाँ महापुरुषों ने अहं को परमात्मा प्राप्ति के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट माना है, ठीक उसके विपरीत नम्रता के गुण की उन्होंने अत्यधिक प्रशंसा भी की है। कबीर साहिब कहते हैं कि यदि चीनी रेत में मिल जाये तो उसे हाथी चुनकर खा नहीं सकेगा, जबकि चींटी उसे बिना किसी कठिनाई के चुनकर खा लेगी। इसी प्रकार प्रभु के निकट पहुँचने के लिये नम्रता, विनय और दीनता को ग्रहण करना आवश्यक है:

हर है खांड रेत मह बिखरी हाथी चुनी न जाए॥

कह कबीर गुर भली बुझाई कीटी होए कै खाए॥²⁵

गुरु के शिष्य को नम्रता का पाठ पढ़ाने के लिये भाई गुरदास ने स्वयं चींटी के उदाहरण का प्रयोग किया है:

नीचहु नीच सदावणा कीड़ी होइ न आपु गणाए।

डुलै खंडु जु रेतु विचि खंडू दाणा चुणि चुणि खाए।²⁶

उन्होंने बताया है कि पैरों पर गिरकर, चरणों की धूलि बनकर गुरु की शिक्षा पर चलने से प्रेमपूर्ण भक्ति पैदा होती है:

पैर पै पाखाक होइ गुरमति भाउ भगति परगासी।²⁷

भाई साहिब ने नम्रता का आदर्श पेश करते हुए स्वयं को निम्नलिखित ढंग से अत्यंत छोटा माना है:

हउ अपराधी गुनहगार हउ बेमुख मंदा।

चोरु यारु जूआरि हउ पर घरि जोहंदा।

निंदकु दुसटु हरामखोरु ठगु देस ठगंदा।

काम क्रोधु मदु लोभु मोहु अहंकारु करंदा।

बिसासघाती अकिरतघण मै को न रखंदा।

सिमरि मुरीदा ढाढीआ सतिगुर बखसंदा॥²⁸

गुरु नानक साहिब भी तो कहते हैं:

नीचा अंदर नीच जात नीची हू अत नीच॥

नानक तिन कै संग साथ वडिआ सिउ किआ रीस॥²⁹

गुरु के शिष्य को किस प्रकार की नम्रता, दीनता या आजिज़ी को धारण करनेवाला होना चाहिये, इसकी कुछ झलक भाई साहिब ने एक अन्य स्थान पर अपने हृदय में झाँककर दिखाई है:

भक्त वत्सल सुनि होत हूँ निराश रिदै,

पतित पावन सुनि आशा उरिधार हूँ।

अंतर्यामी सुनि कंपत हूँ अन्तर गत,

दीन कै दयाल सुनि भय भ्रम टारि हूँ।

जलधर* संगम कै अफल सेंबल द्रुम,

* बादल।

चन्दन सुगन्धि सम्बन्ध मलगार* हूँ।
अपनी करनी कर नरक हूँ न पावों ठौर,
तुमरे बिरद करि आश्रो सम्भार हूँ॥³⁰

भाई गुरदास कहते हैं कि जब यह सुनता हूँ कि सतगुरु भक्तवत्सल है, तो एक बार हृदय निराश हो जाता है, क्योंकि मैं भलीभाँति जानता हूँ कि मुझे पर उसकी भक्ति और सेवा का कोई रंग नहीं चढ़ा, मैं उसके प्रेम का हकदार कैसे बनूँगा? परंतु जब कहा जाता है कि वह पतित-पावन है, पापियों का उद्धार करता है, तो आशा बँधती है कि वह अन्य दुराचारियों की तरह मुझे भी क्यों नहीं तारेगा। कहीं से भनक पड़ती है कि वह घट-घट का जाननेवाला है तो मैं अंदर से काँप उठता हूँ, यह सोचकर कि फिर तो मेरा कोई भी बुरा कार्य उससे छिपा न होगा। पर वह दीनदयाल भी कहलाता है, इसलिये यह जानकर मेरे मन की घबराहट दूर हो जाती है। मैं भी तो दीन हूँ, फिर मैं ही क्यों उसकी दया-मेहर से वंचित रह जाऊँगा? जिस प्रकार कितनी ही वर्षा होती रहे, सेमल को फल नहीं लगता, उसी प्रकार सतगुरु की शरण में रहते हुए भी मुझे परमार्थ में कोई प्राप्ति नहीं हुई। पर जिस प्रकार चंदन के पास खड़े होने से सेमल उसके प्रताप से खुद सुगन्धित हो जाता है, वैसे ही सतगुरु के अनगिनत गुणों का मुझे भी अवश्य लाभ प्राप्त होगा। अगर मेरे कर्मों की परख पर ही सब कुछ निर्भर हो, फिर तो मुझे किसी नरक में भी कोई स्थान या ठिकाना नहीं मिलेगा; पर मेरे सतगुरु जी, आप अपना बिरद पालने से कभी नहीं चूकते, इसलिये मैं आपका सहारा लिये हुए हूँ।

गुरु की मौज

सच्चा अभ्यासी स्वर्ग में रहने की कामना नहीं करता और न ही उसे नरक में फेंक दिये जाने का भय सताता है। वह अपने हृदय में किसी प्रकार की

* चंदन रूप।

इच्छा नहीं रखता, क्योंकि उसे पता है कि जो कुछ हो रहा है, परमेश्वर की रज़ा के अधीन ही हो रहा है। वह सुख, खुशी या वैभव को पाकर जश्न नहीं मनाता और न गरीबी का शिकार हो जाने पर कोई शोक मनाता है। उसके लिये सुख और दुःख एक समान होते हैं, उसे न तो एक हँसने के लिये प्रेरित करता है और न दूसरा रोने के लिये विवश करता है:

बाछै न स्वर्ग बास मानै न नरक त्रास,
आशा न करत चित होनहार होइ है।
सम्पत न हर्ष बिपत में न शोक ताहि,
सुख दुख समसर बिहस न रोइ है*।³¹

शिष्य अपनी अक्ल के घोड़े दौड़ाये बिना, किसी प्रकार की शंका उठाये बिना, गुरु की आज्ञा का पालन करता है। बीमारी, गरीबी, अपमान, माता-पिता, पति या पत्नी, संतान आदि की मौत जैसी असह्य स्थितियों या दुर्घटनाओं के आने पर रोने नहीं बैठता, बल्कि दुःखों को भी सुख मानकर स्वीकार करता है:

हुकमी बंदा होइ कै खसमै दा भाणा तिसु भावै।³²

प्रत्येक जीव अपने पिछले कर्मों के आधार पर निश्चित प्रारब्ध अपने साथ लेकर आता है और वह उसे हर दशा में भुगतना पड़ता है। गुरु के शिष्य के लिये भी इस नियम का कोई उल्लंघन नहीं होता, अपना किया भुगतना उसके लिये भी आवश्यक है। पर, क्योंकि वह रज़ा में रहता है, उसे सिर आ पड़ी विपत्ति अन्य जीवों के समान चुभती नहीं, जैसा कि गुरु नानक साहिब ने कहा है:

ददै दोस न देऊ किसै दोस करंमा आपणिआ॥
जो मै कीआ सो मै पाइआ दोस न दीजै अवर जना॥³³

* बिहस... है=न हँसे, न रोये।

अगर उसे हुकूमत करने या दौलत में खेलने जैसा कोई मनभावन अवसर मिल जाये, तो वह जानता है कि इसे सदा नहीं रहना। अगर बीमारी, गरीबी आदि के कारण कठिनाई में रहना पड़ जाये, तो भी वह मान लेता है कि आखिर यह मेरे अपने ही किये कर्मों का फल है। इसके लिये किसी अन्य को क्या उलाहना देना है? इस प्रकार वह अपने मन का संतुलन बनाये रखता है:

दुखि न रोवै सुखि न हसै॥³⁴

जो प्रारब्ध हमें अपने जीवनकाल में भोगना है, वह प्रभु के द्वार से हमें लिखा-लिखाया मिलता है और वह शत-प्रतिशत हमारे कर्मों के अनुसार लिखा होता है, हुकम चलाए आपणै करमी वहै कलाम॥³⁵, क्योंकि कर्तापुरुष कभी भी भूल नहीं करता, भुलण अंदर सभ को अभुल गुरु करतार॥³⁶, उससे कभी कोई गलती होने की संभावना ही नहीं। वह हमारा पिता भी है, माता भी। वह भला हमारे प्रति कोई द्वैत भाव क्यों रखेगा, अन्याय क्यों करेगा? इसलिये यही उचित है कि हम उसकी रज़ा या मौज के आगे खुशी-खुशी सिर झुका दें, उसका भाणा खुशी-खुशी मान लें। प्रभु को वही प्राणी अच्छा लगता है जो उसके भाणे को मीठा माने:

खसमै सोई भावदा खसमै दा जिसु भाणा भावै।³⁷

इसलिये गुरुमुख कोई शिकवा या शिकायत नहीं करता। उसके लिये रज़ा में खुश रहना उसी प्रकार स्वाभाविक हो जाता है, जिस प्रकार सोते हुए हम साँस लेते हैं:

गुरुमुखि सहजि सुभाइ भाणा भाइआ।

सबद सुरति लिवलाइ हुकमु कमाइआ।³⁸

गुरुमुख अहं के दोष से मुक्ति पा लेता है और प्रभु की मौज को सच्चे हृदय से मीठा जानकर उसका स्वागत करता है। सतगुरु की शरण में लगा, उसके चरणों की धूलि बना, वह पूर्ण रूप से अभिमानरहित होकर सतपुरुष के दरबार में आदर प्राप्त करता है। भविष्य चाहे किसी प्रकार

का भी खेल खेल रहा हो, प्रभु का किया सांसारिक दृष्टि से कितना ही दुर्भाग्यपूर्ण या हानिकारक लगे, वह उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं करता, उसे सिर-माथे पर धारण करता है, बल्कि उसके लिये अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

जिस प्रकार किसी के घर में आया अतिथि अपने मेज़बान की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं जमाता, इसी प्रकार गुरुमुख संसार में एक साधारण मेहमान के रूप में विचरता है। वह न तो इसके जीवों से मोह करता है और न पदार्थों से प्रेम। वह बिल्कुल निर्लिप्त रहता है। इसके फलस्वरूप उसके लिये रज़ा में राज़ी रहना कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करता; उसके लिये यह स्वाभाविक हो जाता है। वह परमेश्वर परमानंद के रूप में अपनी आश्चर्यमयी प्रकृति के कण-कण में समाया है, इसलिये उसकी संपूर्ण रचना ही गुरुमुख को प्रिय लगती है और वह उस पर न्योछावर होता है। इस प्रकार की रहनी, इस प्रकार के व्यवहार के कारण वह बंधनमुक्त हो जाता है तथा निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है:

गुरुमुखि हउमै परहरै मनि भावै खसमै दा भाणा।

पैरीं पै पाखाक होइ दरगह पावै माणु निमाणा।

वरतमान विचि वरतदा होवणहार सोई परवाणा।

कारणु करता जो करै सिरि धरि मनि करै सुकराणा।

राजी होइ रजाइ विचि दुनीआं अंदरि जिउ मिहमाणा।

विसमादी विसमाद विचि कुदरित कादर नो कुरबाणा।

लेप अलेप सदा निरबाणा*॥³⁹

परमार्थ में सफलता के लिये चालाकी या चतुराई सहायता नहीं देती, बल्कि बाधक बन जाती है। जितना कोई नम्र और तुच्छ बनकर रहे,

* बंधनमुक्त।

जितना ही बालक की भाँति असहाय बनकर रहे, उसके लिये उतना ही हितकर होता है। भाई गुरदास कहते हैं:

जैसे एक जननी कै होत हैं अनेक सुत,
सब ही में अधिक प्यारो सुत गोद को।
स्याने सुत बणज ब्योहार के बिचार बिषय,
गोद में अचेत हेत सम्यै न सहोद* को॥
पलना सुलाय माइ गृह काज लागै जाय,
सुण सुत रुदन पय प्यावै मन मोद† को।
आपा खोय जोई गुरु चरण शरण गहे,
रहे निर्दोख मोख आनन्द विनोद को॥⁴⁰

जिस प्रकार एक स्त्री के कई पुत्र हों, पर उसे अपनी गोद का पुत्र अधिक प्रिय होता है, क्योंकि उसके बड़े वयस्क पुत्र तो अपने कारोबार में व्यस्त रहते हैं, जबकि गोद वाले को न तो किसी ज़मीन, जायदाद, धन-दौलत में दिलचस्पी होती है और न किसी सगे-संबंधी में। उसका सारा प्यार हर ओर से निर्लिप्त केवल अपनी माता के लिये ही होता है, उसी के चारों ओर घूमता है। भले ही माता उसे पालने में सुलाकर घर के कामकाज में व्यस्त रहे, पर उसका ध्यान उसी में रहता है। इसलिये जब भी उसके रोने की भनक उसके कानों में पड़ती है, वह तुरंत दौड़कर आती है और दूध पिलाकर उसका चित्त प्रसन्न कर देती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति गुरु के चरणों की शरण में आता है, तो वह उसका ही हो जाता है, उसे तन और मन के कोई क्लेश नहीं होते तथा वह अपनी संसारयात्रा समाप्त करने पर मोक्ष का आनंद प्राप्त करता है।

संत-सतगुरु सुरत-शब्द अभ्यास के अलावा अन्य सेवा की हिदायत भी देते हैं। उद्देश्य तो प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त करना होता है, पर प्रभु की

* सगा भाई।

† प्रसन्नता।

सेवा उसके अलख, अगम होने के कारण सीधे तौर पर किसी दशा में नहीं की जा सकती। इसलिये अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये सतगुरु तथा उनकी संगत की सेवा का माध्यम अपनाया जाता है।

गुरु रामदास जी का कथन है:

जो गुर कउ जन पूजे सेवे सो जन मेरे हर प्रभ भावै॥
हर की सेवा सतगुर पूजहो कर किरपा आप तरावै॥⁴¹

सतगुरु की निजी सेवा भी हर एक को करनी नसीब नहीं होती। इसलिये वे सुरत-शब्द की सेवा को और अपनी संगत की सेवा को ही खुद की सेवा के तौर पर स्वीकार कर लेते हैं। गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं:

करम होवै सतगुरु मिलाए॥ सेवा सुरत सबद चित लाए॥⁴²

और भाई गुरदास:

गुर सिखी दा सिखणा गुरुमुखि साध संगति दी सेवा।⁴³

आदर्श शिष्य अपने गुरु की संगत की सेवा करके अपने हाथों को सफल करता है:

गुरुमुखि हथि सकथ* हनि साध संगति गुर कार कमावै।⁴⁴

शिष्य: विकारों, कामनाओं से मुक्त

आध्यात्मिक क्षेत्र में शोभा पाने के लिये विकारों को जीतना आवश्यक है:

कामु क्रोधु अहंकार साधि लोभ मोह दी जोह† मिटाई।⁴⁵

गुरुमुख व्यक्ति परायी स्त्री को देखकर उसकी आयु को ध्यान में रखते हुए अपने से बड़ी को माता का आदर और सम्मान देता है, बराबर उग्र

* सार्थक।

† प्रतीक्षा।

वाली को बहन का प्यार और छोटी को पुत्री का लाड़-प्यार देता है। उसकी दृष्टि हर हालत में वासना के मैल से मुक्त रहती है। वह अपनी जीविका के लिये हक-हलाल की कमाई पर निर्भर रहता है और परायी धन-दौलत के लोभ से उसी प्रकार दूर रहता है जिस प्रकार मुसलमान सूअर के गोشت से और हिंदू गाय के मांस से। वह अपनी पत्नी, संतान और परिवार के प्रति अपना कर्तव्य अवश्य निभाता है, पर मोह से ऊपर उठकर। उनके लिये वह किसी अन्य पर जोर या ज़बरदस्ती नहीं करता। अगर कोई उसकी बड़ाई या दूसरे की निंदा करे, तो ऐसा नहीं होता कि वह उसे सुनकर अपने को ऊँचा मानकर घमंड करने लगे। अपनी सहज नम्रता से खुद ही वह अपने को सबसे तुच्छ समझता है। वह चाहे कितना ही प्रतापी हो जाये, फिर भी अहंभाव से सदा मुक्त रहता है और किसी का हृदय दुखाने का अपराध नहीं करता:

देखि पराईआं चंगीआं मावां भैणां धीआं जाणै।
 उसु सूअरु उसु गाइ है पर धन हिंदू मुसलमाणै।
 पुत्र कलत्र कुटंबु देखि मोहे मोहि न धोइ धिडाणै।
 उसतति निंदा कंनि सुणि आपहु बुरा न आखि वखाणै।
 वड परतापु न आपु गणि करि अहंमेउ न किसै रजाणै।⁴⁶

संसार में आम तौर पर लोग सेवा, भेंट आदि द्वारा विभिन्न प्रकार के तथाकथित साधुओं की प्रसन्नता प्राप्त करने में जुटे रहते हैं। वे कई प्रकार के पाठ करते हैं, मंत्र जपते हैं, व्रत रखते हैं, बिना सोये रात काटते हैं। ऐसे लोग किसी भेषधारी को पूजनीय मानने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, बल्कि यहाँ तक कि उन्हें तो चौपाये, दो टाँगों वाले जीवों, धरती पर रेंगते कीड़ों, वृक्षों, जड़ी-बूटियों, बल्कि मठ या श्मशान में माथे टेकने में भी संकोच नहीं होता। इन यत्नों द्वारा वे क्या प्राप्त करना चाहते हैं? केवल धन-दौलत, संपत्ति, किसी कष्ट से छुटकारा, कोई मान-बड़ाई, झगड़े में विजय, शत्रुओं की हानि, सगे-संबंधियों का स्वार्थ, बस ऐसी ही बेकार चीज़ें।

कहा जाता है कि पारस वह अमूल्य पत्थर है जो अपने स्पर्श से लोहे और ताँबे जैसी कम क्रीमती धातुओं को सोने में बदल देता है। लक्ष्मी धन की देवी है, उसकी कृपादृष्टि होने पर हर प्रकार के धन और पदार्थों की भूख मिट जाती है। कामधेनु और कल्पवृक्ष अनेक मनोवांछित इच्छाएँ पूरी करने में समर्थ हैं। नौ निधियों और अठारह सिद्धियों के घेरे में बहुत-सी धन-दौलत ही नहीं, कितनी ही शक्तियाँ भी आ जाती हैं। चार पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—मिल जायें तो कुछ भी और माँगने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। आधे-अधूरे साधकों के बारे में तो क्या कहना, बल्कि सिद्धों और योगियों को भी अगर इनमें थोड़ी-सी प्राप्ति हो जाये तो वे उसी को अपनी आखिरी मंज़िल समझ लेते हैं। वे उसी के हो जाते हैं। पर श्रद्धालु शिष्य अपना तन, मन और धन गुरु की भेंट चढ़ाकर बदले में उसकी दया-मेहर से अधिक कुछ नहीं माँगता, क्योंकि ऋद्धि-सिद्धि आदि किसी वस्तु में रुचि लेना उसके सब किये कराये पर पानी फेरने का कारण बन सकता है। जिस प्रकार कोई माँ अपने बच्चे के ज़िद करने पर खेलने के लिये जलती लकड़ी उसके हाथ में नहीं देती, उसी प्रकार सतगुरु सर्वशक्तिमान होने के बावजूद अपने शिष्य की किसी हानिकारक वस्तु के लिये कामना पूर्ण करके उसके सही मार्ग से भटकने में सहायक नहीं बनते:

चारि पदारथ आखीअनि सतिगुर देइ न गुर सिखु मंगै।
 अठ सिधी निधी नवै रिधि न गुर सिखु ढाकै टंगै।
 कामधेणु लख लखमी पहुच न हंघै ढंगि सुढंगै*।
 लख पारस लख पारजात हथि न छुहदा फल न अभंगै†।
 तंत मंत पाखंड लख बाजीगर बाजारी नंगै।
 पीर मुरीदी गाखड़ी‡ इकस अंगि न अंगणि अंगै।
 गुर सिखु दूजे भावहु संगै॥⁴⁷

* श्रेष्ठ।

† नाशवान।

‡ पीर...गाखड़ी=गुरु का शिष्यत्व कठिन है।

तंत्र-मंत्र जैसे कपट से सीधे लोगों को ठगना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। शिष्य ऐसे आचरण से दूर रहता है।

गृहस्थ धर्म

गुरुमत यानी संतों का मार्ग घरबार त्याग देने की माँग नहीं करता और न ही माता-पिता, पत्नी, बेटे-बेटियों जैसे संबंधियों से विमुख होना सिखाता है। अपने शरीर को तप, व्रत आदि द्वारा कष्ट देने या कोई मानसिक पीड़ा सहन करने की भी इस मार्ग में ज़रूरत नहीं। कमल पानी का पौधा है, वह पानी के बिना जीवित नहीं रह सकता, तो भी वह पानी से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार शिष्य को संसार में जीवन व्यतीत करते हुए ही संसार से निर्लिप्त रहकर आवागमन से मुक्त होना है। इस संबंध में गुरु अर्जुन साहिब फ़रमाते हैं:

हसंदिआ खेलंदिआ पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुक्त॥⁴⁸

इसी प्रकार भाई गुरदास कहते हैं:

ज्ञानन में ज्ञान अरु ध्यानन में ध्यान गुरु,
सकल धर्म मै गृहस्थ प्रधान है॥⁴⁹

जिस प्रकार सभी प्रकार के ज्ञान में गुरु का उपदेश सर्वोत्तम ज्ञान है और सभी तरह के ध्यान में उसके स्वरूप का ध्यान प्रमुख है, इसी प्रकार सब धर्मों में गृहस्थ धर्म श्रेष्ठ है।

गुरु गृहस्थ में रहनेवाले शिष्य की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार चावल को उसका छिलका बचाये रखता है। जब चावल को उसके छिलके सहित बोया जाये, तो वह अपने से कई गुना होकर फलता है और स्वास्थ्यवर्धक भोजन के रूप में जीवों का उपकार करता है। अपने छिलके में टिके रहना उसके निजी हित के लिये भी अच्छा होता है, क्योंकि छिलके की सुरक्षा में चावल को घुन आदि विकार परेशान नहीं करते। छिलके से बाहर निकलकर वह मैला-कुचैला होने के अलावा टूट भी जाता है और खाने में भी स्वादिष्ट नहीं रहता और अगर पका लिया जाये तो

उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। गुरु का शिष्य दीक्षा लेकर गुरु के उपदेशानुसार अपनी गृहस्थी में रहते हुए, माया से अलिप्त, एक पूर्ण वैरागी का जीवन बिताता है। अगर वह घरबार त्यागकर इधर-उधर भटकता फिरे, तरह-तरह की तृष्णाओं द्वारा सताया हुआ कुकर्मों की मैल इकट्ठी करता रहे और अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिये किसी दूसरे पर बोझ बना रहे, तो उसके उद्धार की कोई संभावना नहीं हो सकती:

तुस मैं तंदुल बोझ निपजैं सहस्र गुनो,
देहि धार करत है परउपकार जी।
तुस मैं तंदुल निरबिघ्न न लागै घुन,
राखे रहै चिरंकाल, होत न बिकार जी॥
तुस मैं निकस होय भग्न* मलीन रूप,
स्वाद करुवाइ†, रांधे रहै न संसार जी।
गुरु उपदेस गुरुसिख गृह में बैरागी,
गृह तज बनखंड होत न उद्धार जी॥⁵⁰

सच्चे योग का अभ्यास अवश्य कल्याणकारी होता है, पर बाहरमुखी योग कल्याण का साधन नहीं हो सकता। सच्चे योग के लिये अपने घर-परिवार से पल्ला छुड़ाकर कहीं दूर भाग जाने और इस प्रकार समाज के लिये बोझ बन जाने की ज़रूरत नहीं होती। सच्चा योगी अपने परिवार, समाज और देश के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों को निभाते हुए संसार में निर्मोह और निर्लेप होकर विचरता है। उसके लिये कानों का आभूषण और पल-पल याद रखनेवाली वस्तु गुरु का मंत्र ही होता है न कि मोटी-मोटी मुँदराएँ। शरीर पर मलने के योग्य भभूत संतों के चरणों की धूलि (यहाँ भाव अंदर के चरणों से है) होती है न कि कहीं से माँगी हुई लकड़ियों

* टूटा हुआ।

† कड़वा हो जाता है।

की राख। कुछ योगी मोटे कपड़े की कफ़नी (खिंथा) पहनकर यह दिखाना चाहते हैं कि वे दुर्व्यवहार के प्रति उदासीन रहते हैं। परंतु सच्चे योगी की कफ़नी उसकी सबके प्रति क्षमा की भावना होती है। उसका पात्र प्रेम है, फलस्वरूप जो कुछ रूखा-सूखा उसे मिलता है वह आभार मानते हुए खा लेता है। उसे तो सुरत के शब्द से जुड़ने पर अनहद की अमृतमयी धुन आनंदित करती है, फिर वह सिंडी में फूँक मारकर बेकार का शोर क्यों सुनेगा? ज्ञान ही उसका डंडा है और गुरु का ध्यान उसकी सेवा है। वह किन्हीं गुफाओं, कंदराओं में जाकर नहीं छिपता, गुरु की संगति ही उसे हर प्रकार की बुरी प्रवृत्तियों से बचाकर रखती है और वह सहज समाधि के रस का आनंद लेता हुआ सचखंड का अधिकारी बन जाता है:

गुरसिख जोगी जागदे माइआ अंदरि करनि उदासी।
कंनी मुंदरां मंत्र गुर संतां धूड़ि बिभूत सुलासी*।
खिंथा† खिमां हंढावणी प्रेम पत्र भाउ भुगति बिलासी।
सबद सुरति सिंडी वजै डंडा गिआनु धिआनु गुरदासी।
साध संगति गुर गुफै बहि सहजि समाधि अगाधि निवासी।⁵¹

कमल पानी में जन्म लेता है, उसी में बढ़ता और फूलता है। उसके बिना उसका सप्ताह भर भी जीवित रहना संभव नहीं। पर इस सारी निर्भरता के बावजूद वह पानी में डूबता नहीं, उससे संपूर्ण सत्ता प्राप्त करके भी उसका नहीं बनता, उसकी दृष्टि सदा सूर्य पर टिकी रहती है। कमल की भाँति सतगुरु का शिष्य संसार में रहते हुए, सांसारिक ज़िम्मेदारियाँ निभाते हुए, खाते, पहनते, हँसते, खेलते अपना ध्यान शब्द (नाम) में जोड़कर संसार में अलिप्त रहता है। ऐसा जीवन एक सच्चे अभ्यासी का जीवन होता है:

गुरमुखि सुखफल पाइआ राजु जोगु रस रलीआ माणै।⁵²

* श्रेष्ठ।

† कफ़नी।

गुरु से शिक्षा लेकर उस पर अमल करने से जो लाभ प्राप्त होते हैं, उनको देखते हुए अन्य किसी प्रकार के जप, तप, संयम, होम, यज्ञ, व्रत, तीर्थ, स्नान आदि में रुचि लेना व्यर्थ समय गँवाना है:

लख जप तप लख संजमा होम जग लख वरत करंदे।
लख तीरथ लख ऊलखा लख पुरीआ लख पुरब लंगंदे।
देवी देवल देहुरे लाख पुजारी पूज करंदे।
जल थल महीअल भरमदे करम धरम लख फेरि फिरंदे।
लख परबत वणखंड लख लख उदासी होइ भवंदे।
अगनी अंगु जलाइदे लख हिमंचलि जाइ गलंदे।
गुरु सिखी सुखु तिलु न लहंदे॥⁵³

जिस समय परमेश्वर सगुण रूप धारण करके संसार में आते हैं, उस समय बहुत-से अभिलाषी लोकलाज के डर से उनकी शरण में नहीं पहुँच पाते। वे सोचते रहते हैं, लोग कहेंगे कि यह अपने पूर्वजों द्वारा कई पीढ़ियों से पूजे जा रहे देवी-देवताओं को छोड़कर एक साधारण दिखाई दे रहे मनुष्य का अनुयायी बन गया है। पर जब सतगुरु वापस चले जाते हैं, तब उनकी एक पल की भी संगति, उनकी थोड़ी-सी भी झलक किसी क्रीमत पर नहीं मिलती, पद्म रुपये यानी बेशुमार दौलत खर्च करने पर भी नहीं:

जोई लजाय, पाईए न पुनः पद्म दै,
पलक अमोल प्रिय संग मुख साखीए॥⁵⁴

सभी स्मृतियाँ, अठारह पुराण, चार वेद, छः शास्त्र, सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा, व्यास तथा शुकदेव जैसे ऋषि, शेषनाग जैसे उपासक—सभी प्रभु का यश गाते रहे, पर सारी साधना के बावजूद वह उनके लिये अगम, अनंत ही बना रहा। शिव जी, सनक, सनन्दन आदि बाल ब्रह्मचारी, नारद आदि मुनि, देवता, नाथ योगी तथा अन्य उच्च गति के पुरुषों ने उस पर ध्यान लगाया, तो भी

वह किसी की पकड़ में नहीं आया। अनेक अभ्यासी पहाड़ों, जंगलों और तीर्थों में भटकते रहे, पुण्य, दान, होम, यज्ञ किये, व्रत रखे, ठाकुरों को भोग लगाये, पर उसने उनमें से किसी को भी दर्शन न दिये। इसके विपरीत गुरु के शिष्य कितने सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें चारों ओर से माया से घिरे हुए होने पर भी परमेश्वर ने स्वयं गुरु के रूप में आकर साक्षात् दर्शन दिये:

स्मृति पुराण बेद शास्त्र बिरंच* व्यास,
नेति नेति नेति शुक शेष यश गायो है।
शिव सनकादि नारदादिक ऋषीश्वरादि,
सुर नर नाथ जोग ध्यान में न आयो है।
गिरि तरु तीरथ गवन पुन्य दान व्रत,
होम यग भोग नैवेद† कै न पायो है।
अस वडभाग माया मध्य गुरु सिखन को,
पूर्ण ब्रह्म गुरु रूप है दिखायो है॥⁵⁵

इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए भाई गुरदास छठी वार की ग्यारहवीं पौड़ी में फ़रमाते हैं कि जब शिष्य सतगुरु के चरणकमलों का भँवरा बनकर, अनन्य प्रेम सहित, उनके उपदेश का अनुसरण करते हुए अभ्यास करता है तो वह इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीनों नाड़ियों से आगे जाकर, त्रिवेणी को पीछे छोड़कर, अपने निज घर में प्रवेश कर लेता है। इस मार्ग पर निज घर पहुँचने का अर्थ ही है कि उसका मन स्थिर हो गया, इंद्रियों का आकर्षण समाप्त हो गया, आत्मा पर पड़े कर्मों के परदे उतर गये और उसे अपनी आत्मिक पहचान हो गई। इस पहचान से पहले आत्मा, मान लो जब हाथी के जामे में कैद हुआ करती थी तो समझती थी कि मैं एक विशाल क्रद का जानवर हूँ; जब कुष्ठी के चोले में होती थी तो उस समय

* ब्रह्मा।

† नैवेद्य, देवताओं को अर्पण की जानेवाली खाने की वस्तु।

स्वयं को एक असाध्य रोग का शिकार समझती थी। पर त्रिवेणी की सीमा से पार होने के बाद उसको ऐसा कोई भ्रम नहीं रहता। तत्त्वों के किसी भी मिश्रण से बने स्थूल, सूक्ष्म, कारण-हर शरीर से आत्मा के संबंध समाप्त हो जाते हैं और सारे बंधनों से मुक्त हुई वह ऐसा अनुभव करती है जैसा अँधेरी गुफा में बंद किया हुआ कोई पक्षी अपने पिंजरे की सलाखें तोड़कर खुले निर्मल आकाश में उड़ रहा हो। फिर अपना ध्यान जी-जान से सदा सतगुरु के स्वरूप में जोड़कर आत्मा अगला क्रदम बढ़ाती है, तो वह 'सोहं-सोहं' उच्चारण करने लगती है- 'जो तू है, वह मैं हूँ'। अब उसे केवल यही ज्ञान नहीं होता कि मैं अपने शरीर से अलग कोई उत्तम वस्तु हूँ, बल्कि वह यह भी जान लेती है कि मैं सतनाम समुद्र की एक बूँद हूँ और इस नाते मैं स्वयं भी समुद्र हूँ। अथाह प्रेम पर आधारित उसकी अति प्रशंसनीय लिव ऐसी होती है, जैसे एक साधारण गंध परम सुगंध में समाकर उसी का रूप धारण कर ले। परमेश्वर सुखों का भंडार है। जिज्ञासु की जन्मांतरों से दुःख भोग रही अंशरूप आत्मा उसमें लीन होकर सदा के लिये सुखी हो जाती है। इस प्रकार उसे गुरु रूप में हरि की प्रेमपूर्वक भक्ति का सुख फल मिल जाता है और वह फल है देह से विदेह होकर परमपद को प्राप्त कर लेना:

चरण कमल मकरंदु* रसि होइ भवरु लै वासु लुभावै।
इड़ा पिंगुला सुखमना लंघि त्रिवेणी निज घरि आवै।
साहि साहि मनु पवण लिव सोहं हंसा जपै जपावै।
अचरज† रूप अनूप लिव गंध सुगंधि अवेस मचावै।
सुख सागर चरणारबिंद सुख संपट विचि सहजि समावै।
गुरमुखि सुख फल पिरम रसु देह विदेह‡ परम पदु पावै।
साध संगति मिलि अलखु लखावै॥⁵⁶

* पराग।

† आश्चर्यजनक।

‡ देहरहित।

शिष्यता: गुरु की दात

जो बच्चा ब्राह्मण पिता के घर पैदा होता है वह जन्म के इस संयोग के कारण ही ब्राह्मण मान लिया जाता है और किसी क्षत्रिय की संतान होनेवाला बालक क्षत्रिय कहलाता है। पर उसी प्रकार किसी डॉक्टर का पुत्र डॉक्टर या फिर इंजीनियर का पुत्र इंजीनियर नहीं बन जाता। सच्चे गुरु की शिष्यता प्राप्त करना एक अमूल्य बख्शीश है, वह जन्म से या विरासत में प्राप्त हो जानेवाली वस्तु नहीं। गुरु की शिष्यता अपने आप भी प्राप्त नहीं की जा सकती, जैसे कई लोग अपना नाम स्वयं ही बदलकर समाचार पत्र में विज्ञापन छपवा देते हैं। रास्ते पर उगे झाड़ी के बेर को कोई भी पास से गुजरनेवाला तोड़कर खा सकता है। पर शिष्यता तो एक सचेत रूप में बख्शा जानेवाला बेजोड़ उपहार है, इसके लिये दाता सतगुरु का दयाल होना और अपनी दया को दीक्षा का अमली रूप देना आवश्यक है:

सतिगुर तुठै पाईऐ साध संगति गुरमति गुर सिखी।⁵⁷

गुर दीखिआ लै सोइ सिखु सदाइआ।⁵⁸

गुरु की सेवा में लगे कुछ विरले जीवों को छोड़कर दुनियादार लोग अपनी ही बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों और विधियों को अपनाकर मनुष्य-जन्म व्यर्थ गँवा रहे हैं। इसलिये भाई साहिब ने दीक्षा की आवश्यकता को बार-बार दोहराया है। उदाहरणार्थ:

गुरसिख लै गुरसिख होइ आपु गवाइ न आपु गणाइआ।⁵⁹

गुरसिखि लै गुरसिखु सदाइआ॥⁶⁰

गुर सिख लै गुरसिख होइ साध संगति जग अंदरि जाणी।⁶¹

गुर सिख सुणि गुर सिख हुइ मुरदा होइ मुरीद सु कोई।⁶²

जिस प्रकार, लाखों-करोड़ों रुपयों की राशि यदि कागज़ पर लिखकर उस कागज़ को जेब में डाल लिया जाये, तो उसका कुछ भी लाभ नहीं होता, जबकि लाभ की बात तभी बनती है, अगर सचमुच ही गिनने योग्य रुपये अपने पास हों; जिस प्रकार 'अमृत', 'अमृत' बोलने से कुछ नहीं होता, अमृत को ज़बान से चखकर ही अमर हुआ जा सकता है; जिस प्रकार किसी के चक्रवर्ती सम्राट कहलाने के लिये उसका हकीकत में सिंहासन पर बैठना आवश्यक होता है, उसके किसी शुभचिंतक या किसी भाट का कोरा आशीर्वाद ही उसका हुक्म जारी कराने में सहायक नहीं होता; इसी प्रकार जब तक गुरु से शब्द के अभ्यास की विधि न सीख ली जाये, तब तक कहीं से कुछ लिखा हुआ पढ़ने से या किसी का कुछ कहा हुआ सुनकर गुरुमत का ज्ञान नहीं होता:

जैसे लाख कोरि लिखत न कन भार लागै,

जानत सु स्रम होइ जां कै गन राखीऐ॥

अंघ्रित अंघ्रित कहै पाईऐ न अमर पद,

जउ लउ जिहवा कै सुरस अंघ्रित न चाखीऐ॥

बंदी-जन की असीस भूपति न होइ कोऊ,

सिंघासन बैठे जउ लउ चक्रवै न भाखीऐ॥

तैसे लिखे सुने कहे पाईऐ ना गुरमति,

जउ लउ गुर सबद की सु जुगति न लाखीऐ॥⁶³

जिस प्रकार गूँगा व्यक्ति कोई भी सुर अलापने में असमर्थ होता है और बहरा कुछ भी सुनने में; जिस प्रकार नेत्रहीन को अपने घर की भी पहचान नहीं होती, लँगड़े से चला नहीं जाता; लूला किसी को गले लगाकर मिलने का ढंग नहीं जानता; माता अपने बालक के लिये सुंदर नाम चुनकर उसमें उस नाम जैसे गुण पैदा नहीं कर सकती; तुच्छ जुगनू से सूर्य जैसे प्रकाश की आशा नहीं रखी जा सकती; इसी प्रकार पूरे गुरु के बिना शिष्यता की परम दात नहीं मिलती:

गूंगा गावि न जाणई बोला सुणै न अंदरि आणै।
 अन्है दिसि न आवई राति अन्हरी घर न सिजाणै।
 चलि न सकै पिंगुला लूल्हा गलि मिलि हेतु न जाणै।
 संधि सुपुती न थीऐ खुसरे नालि न रलीआ माणै।
 जणि जणि पुता माईआं लाडले नांव धरेनि धिडाणै।
 गुरसिखी सतिगुरू विणु सूरजु जोति न होइ टटाणै।
 साध संगति गुर सबदु वखाणै॥⁶⁴

तलवार की धार जैसा मार्ग

किसी पूरे गुरु से दीक्षित होकर उसके हुक्म के अधीन चलते हुए प्रभुप्राप्ति के लिये अभ्यास करने का मार्ग, जीते-जी मरने का मार्ग है। उस पर चलना उतना ही कठिन है जितना तलवार की तेज़ और बाल से बारीक धार पर चलना। जिस तेज़ धार पर मच्छर टिक नहीं सकता, चींटी तक चलने की हिम्मत न करती हो, उस मार्ग पर वह क्या चलेगा जिसके सिर पर वासनाओं की बहुत भारी गठरी लदी हो? जो कोई कोल्हू में पीड़े जानेवाले तिलों के समान पीड़े जाने यानी कठिनाई सहने को तैयार हो, उसे ही इधर अपना मुँह करना चाहिये:

गुरसिखी बारीक है खंडे धार गली अति भीड़ी।
 ओथै टिकै न भुणहणा* चलि न सकै उपरि कीड़ी।
 वालहुं निकी आखीऐ तेलु तिलहुं लै कोल्हू पीड़ी।⁶⁵

जिस प्रकार पतंगा दीपक को एक बार देख ले तो वापस नहीं लौटता, उसे सीधा गले लगाकर मिलता है और जल मरता है, उसी प्रकार अगर सत्संगी सतगुरु के दर्शन करके उस पर कुरबान न हो जाये, तो जान लो कि वह प्रेममार्ग के सार और ज्ञान से कोरा है और शिष्य कहलाने का अधिकारी नहीं।

* मच्छर।

हिरन शिकारी के बाजे की आवाज़ सुनते ही अपने शिकार के लिये आये उसी शिकारी के क्रदमों में जा गिरता है। इसी प्रकार सच्चे शिष्य को भी अपने गुरु की दया से प्राप्त अनहद शब्द की धुन का रसास्वादन करने में अपना सर्वस्व गुरु पर न्योछावर कर देना चाहिये। यदि ऐसा करने में शिष्य संकोच करे तो वह अपने जन्म को ही लज्जित करता है।

जो जिज्ञासु विश्वास से रहित है और गुरु का दास बनकर भी जिसके हृदय में उनके दर्शन के लिये वैसी तड़प नहीं होती जैसी पपीहे की स्वाति बूँद के लिये होती है, तो वह स्वयं ही अपनी हँसी उड़वाता है और अपने जीवन को लजाता है।

सच्चा शिष्य अपने गुरु को सतपुरुष का रूप जानकर उसी का ध्यान करता है, उनसे उपदेश लेने के बाद किसी अन्य ज्ञान के लिये नहीं भटकता। वह गुरु से वैसी ही प्रीति करता है, जैसी मछली जल से करती है। जब तक मछली को जल की गोद मिली रहती है, उसे किसी और सुख या आनंद की कामना नहीं होती, पर इस गोद के छिन जाने पर वह तुरंत प्राण त्याग देती है:

दर्शन दीप देखि होइ न मिलै पतंगु,
 परचा* बिहून गुर सिख न कहावई।
 सुनत शब्द धुनि होय न मिलत मृग,
 शब्द सुरति हीन जनम लजावई।
 गुर चरनामृत कै चात्रिक न होय मिलै,
 रिदय न बिश्वास गुरदास ह्वै न हसावई।
 सति रूप सतिनामु सदगुरु ज्ञान ध्यान,
 एक टेक सिख जल मीन ह्वै दिखावई॥⁶⁶

ऊपर से देखने में गुरु के प्रति शिष्यता का निर्वाह करना अलूनी सिल को चाटने के समान नीरस प्रतीत होता है, पर जिन भाग्यशालियों ने इस

* परिचय, अनुभव।

आदर्श का पालन किया, वे भलीभाँति जानते हैं कि ईख या अमृत रस से लाख गुना अधिक मीठा कोई अन्य रस शिष्य को प्राप्त होनेवाले उस आनंद की तुलना में नहीं आ सकेगा:

सिल आलूणी चटणी तुलि न लख अमिअ रस इखी।⁶⁷

मनमुख

बेमुख या मनमुख उस व्यक्ति को कहा जाता है जो परमात्मा को भूल गया हो। ऐसे अभागे जीव की स्थिति उस बंदर जैसी होती है जिसके गले में बहुमूल्य रत्नों का हार पहना दिया जाये और वह उसे बेकार का बोझ समझकर गँवा दे; या फिर उस कलछी जैसी है जो स्वादिष्ट भोजन में घूमती रहने पर भी, उसके स्वाद से वंचित रह जाती है। यही दशा मेंढक की होती है जो अपनी आँखों के सामने कीचड़ में खिले कमल की सुंदरता को पहचान नहीं पाता, या फिर उस मृग की दशा, जिसकी नाभि की सुगंधित कस्तूरी उसे भटकाती ही रहती है। गूजर की पाली हुई गौएँ उसके लिये दूध प्रदान करती हैं, पर वह उसका खुद प्रयोग नहीं करता, बल्कि उसे बेचकर पशुओं के खाने के लिये खली और भूसा खरीद लाता है। इसी तरह गुरु से विमुख जीव अपनी आयु के बहुमूल्य वर्ष व्यर्थ के धंधों में गँवा देता है और अंत में यमों के वश में पड़कर सज़ा भोगता है:

रतन मणी गलि बांदरै किहु कीम न जाणै।
कड़छी साउ न संमहलै भोजन रसु खाणै।
डडू चिकड़ि वासु है कवलै न सिजाणै।
नाभि कथूरी मिरग दै फिरदा हैराणै।
गुजरु गोरसु* वेचि कै खलि सूड़ी आणै।
बेमुख मूलहु घुथिआ दुख सहै जमाणै॥⁶⁸

* दूध।

यदि चींटी चाहे कि मैं हाथी को अपने पेट में समेट लूँ, तो वह ऐसा नहीं कर सकेगी और न भृंगी किसी भारी पर्वत को अपने कंधों पर उठा सकेगी। भले ही मच्छर को डंक मारना आता है, फिर भी वह अपने डंक से बासुकि नाग को नहीं मार सकता और मकड़ी की कमर चाहे कितनी भी पतली क्यों न हो, लेकिन उससे अत्यंत फुर्तीले चीते की बराबरी नहीं हो सकती। कहने को तो उल्लू के भी पंख होते हैं और वह उनका प्रयोग करना भी जानता है, फिर भी वह उक्काब या गरुड़ की भाँति आकाश की ऊँचाई तक उड़ान नहीं भर सकता। लाख प्रयत्न करने के बावजूद किसी चूहे द्वारा तैरकर समुद्र के पार नहीं पहुँचा जा सकता। हालाँकि परमेश्वर प्रेम का रूप है, पर सदा अपने स्वार्थ में लिपटा हुआ मनमुख क्या जाने कि उसके साथ मिलाप कैसे किया जाता है? उसके लिये तो प्रभु अगम्य और अगाध बना रहता है। परंतु गुरुमुख उसके साथ इस प्रकार मिल जाता है और उससे एकाकार हो जाता है, जिस प्रकार पानी की बूँद महासागर में समाकर उसमें लीन हो जाती है:

चीटी के उदर बिखै हसती समाइ कैसे,
अतुल पहार भार भ्रिंगी न उठावई।
मच्छर के डंग न मरत है बासक नाग,
मकरी न चीतै जीतै सर न पुजावई॥
तमचर* उडत न पहुँचै आकास बास,
मूसा तौ न तैरत समुद्र पार पावई।
तैसे प्रिय प्रेम नेम अगम अगाध बोध,
गुरुमुख सागर ज्यों बूंद ह्वै समावई॥⁶⁹

गुरु के उपदेश से विहीन किसी व्यक्ति के गाने-बजाने या भाषण देने की कुशलता या चतुराई बिल्कुल अर्थहीन है। उसके ऐसा करने से बाहरी

* उल्लू।

तौर पर यह भ्रम हो सकता है कि यह व्यक्ति बड़ा गुणवान है, पर उसकी अवस्था वैसी ही है, जैसी माला में सुमेरु नाम के मनके की, जो मुख्य मनका होने के बावजूद गिनती में शामिल नहीं किया जाता। वह सेमल के वृक्ष की तरह है जो दिखने में अति लुभावना होने पर भी सदा फल से रहित रहता है; या फिर आकाश में ऊँचाई पर उड़नेवाली चील जैसी है, जो केवल मरे हुए जीवों के पिंजर ही देख पाती है:

जैसे माला मेरु पोईअत सब ऊपर कै,
सिमरन संखिआ मै न आवत बडाई कै॥
जैसे बिरखन बिखै पेखीऐ सेबल ऊचो,
निहफल भइओ सोऊ अति अधिकाई कै॥
जैसे चील पंछिन मै उडत आकासचारी,
हेरै म्रित पिंजरन ऊचे मतु पाई कै॥
गाइबो बजाइबो सुनाइबो न कछू तैसे,
गुर उपदेस बिना ध्रिग चतुराई कै॥⁷⁰

5

सत्संगति

ॐ

दिल्ली से लंदन पहुँचने के लिये मार्ग में कहीं न रुकनेवाला जहाज़ मिल सकता है, लेकिन धरती पर खड़े किसी जिज्ञासु के निज घर पहुँचने के लिये उसी तरह का बिना पड़ाववाला कोई साधन नहीं मिल सकता। उसे पहले संगति ढूँढ़नी पड़ती है, संगति में सतगुरु मिलता है और सतगुरु की दया से परमपद तक पहुँच हो जाती है। इस प्रकार की संगति सत्संगति कहलाती है। सच्ची संगति वह है जिसमें सतपुरुष का निवास हो विच संगत हर प्रभ वसै जीउ॥¹ या साधुसंगति हो। यहाँ 'साधु' से भाव किसी सफ़ेद या भगवे वस्त्रधारी व्यक्ति से नहीं, बल्कि प्रभुरूपी संत-सतगुरु से है जिसके बारे में कहा गया है:

इह नीसाणी साध की जिस भेटत तरीऐ॥
जमकंकर नेड़ न आवई फिर बहुड़ न मरीऐ॥²

वह, जिसका मिलाप क्षण में ही तार दे:

साधसंग खिन माहे उधारे॥³

किसी भी प्रकार के मनुष्यों के मिलकर बैठने से साधुसंगति नहीं बनती, उसके लिये सतगुरु का मौजूद होना आवश्यक है, सतगुरु बाज़हो संगत न होई॥⁴

भाई गुरदास साधुसंगति को सचखंड कहते हैं, क्योंकि उसमें प्रभु के प्रत्यक्ष रूप सतगुरु विराजमान होते हैं:

साध संगति सचखंड विचि सतिगुर पुरखु वसै निरंकार।⁵

भले ही निरंकार सृष्टि के कण-कण में रमा हुआ है, पर सत्संगति में तो उसे सांसारिक आँखें भी देख सकती हैं:

आपे आपि वरतदा सतिसंगि विसेखै॥⁶

इस सचखंड को सतगुरु अपने शब्द के उपदेश द्वारा आबाद करते हैं:

साध संगति सचु खंडु है निरंकारु गुरु सबद वसाइआ।⁷

साधुसंगति की आवश्यकता

बहुत-से लोग इस गलतफ़हमी के शिकार हैं कि यदि समाज के अच्छे नागरिक बनकर और नेकनीयती की राह पर चलकर समय गुज़ार लिया जाये, तो उद्धार अपने आप हो जाता है; इसके लिये किसी और प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उनका विचार है कि यदि कपड़े को मैला ही न होने दिया जाये, तो वह धोबी के पास किस लिये भेजा जायेगा? परंतु ऐसा सोचते हुए वे भूल जाते हैं कि हमसे कितने ही अनगिनत कर्म, बिना सोचे-समझे होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमें उन कर्मों का ऋज भी चुकाना पड़ता है जो हम अनेक पिछले जन्मों में कर चुके हैं और जिनका हिसाब हमें ज्ञात नहीं है। इसलिये और बातों में चाहे कोई कितना ही अच्छा, अच्छे से अच्छा प्रतीत होता हो, पर जब तक वह संत-सतगुरु की संगति में आकर सही दिशा प्राप्त करके शब्द की कमाई नहीं करेगा, तब तक उसका भवसागर से पार उतरना कदापि संभव नहीं होगा:

साध संगति गुर सबद विणु थाउ न पाइनि भले भलेरे।⁸

तथा:

साध संगति गुर सबद विणु मरि मरि जंमनि दई विगोए*।⁹

संगति का प्रभाव

अगर पारे की भस्म ठीक ढंग से न बनी हो तो वह घातक ज़हर का काम करती है, उसको खाने से भयानक बीमारियाँ हो जाती हैं। पर अगर उसकी सावधानी से विधिवत् भस्म तैयार की गई हो तो वह कई जटिल रोगों के इलाज के लिये अचूक औषधि सिद्ध होती है। तब यही पारा सोने को शोध लेने के योग्य हो जाता है और ताँबे को सोने में बदलने के भी। अपनी साधारण अवस्था में पारा इतना चंचल होता है कि पकड़ते समय हाथ में नहीं आता पर अगर सही उपचार द्वारा उसे गोली का रूप दे दिया जाये तो वह ऐसी नम्रता धारण कर लेता है और इतना मूल्यवान बन जाता है कि सभी लोग उसे सम्मान देने लगते हैं। पारे की भाँति अच्छी-बुरी संगति किसी मनुष्य को सर्वोच्च या अधिकारपूर्ण पद पर पहुँचा देती है अथवा अपमान के गहरे से गहरे गड्ढे में भी फेंक देती है:

सोई पारो खात गात बिबिधि बिकार होत,
सोई पारो खात गात† होत उपचार है।
सोई पारो परसत कंचनहि सोख लेत,
सोई पारो परस तांबो कनिक‡ धार है।
सोई पारो अगह न हाथ से गहयो जाइ,
सोई पारो गुटका है सिध नमसकार है।§
मानुस जनम पाइ जैसीए संगति मिलै,
तैसी पावै पदवी प्राप्त अधिकार है॥¹⁰

* बाहिगुरु को भूले रहेंगे।

† शरीर।

‡ सोना।

§ गोली।

संगति अच्छी हो या बुरी, वह अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। अगर सफ़ेद वस्त्र को काले, पीले, नीले, लाल आदि जिस प्रकार के भी रंग में डुबोया जाये, तो सफ़ेद वस्त्र उसी रंग का हो जाता है। उसके तानेबाने का एक-एक तार उस रंग में सराबोर हो जाता है। कपड़े की मैली कतरनों को गलाकर और पीटकर कागज़ बनाया जाता है, पर जब उस पर प्रभु की कथा अंकित हो जाती है, तब उसे कल्याणकारी मानकर उसकी पूजा होने लगती है। जैसे-जैसे गर्मी, सर्दी और वर्षा की ऋतुएँ बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे उनके अनुकूल ही दिन और रात छोटे-बड़े होने लगते हैं। अगर हवा सुगंधित फूलों पर से गुज़रकर आये, तो उनकी तरह ही सुगंधित हो जाती है और गंदगी के ढेर को स्पर्श करके आये, तो बदबूदार। यही दशा पवन जैसे चंचल और चपल मन की होती है। जैसी संगति, वैसी ही उसकी रंगत:

जैसे जैसे रंग संग मिलत सेतांबर* हुइ,
तैसो तैसो रंग अंग-अंग लपटाइ है।
भगवत कथा अरधन कौ धारनीक,
लिखत कृतास पत्र† बंध मोख दाइ है॥
सीत ग्रीखमादि‡ बरखा त्रिबिधि बरख में,
निस दिन होइ लघु दीरघ दिखाइ है।
तैसे चित चंचल चपल पौन गौन गति,
संगम सुगंधि बिरगंधि प्रगटाए है॥¹¹

साधुसंगति का प्रताप

जब चीनी, घी, आटा, पानी और अग्नि का सुमेल होता है तो पंचामृत नामक उत्तम पदार्थ (हलवे का प्रसाद) बन जाता है; कस्तूरी, गोरोचन, चंदन, चोआ, केसर जैसी वस्तुएँ मिलने पर अरगजा कहलानेवाले अति

* सफ़ेद वस्त्र।

† कागज़।

‡ गर्मी की ऋतु।

सुगंधित द्रव्य का जन्म होता है; अलग-अलग चार रंगों वाले पान, चूना, कत्था और सुपारी इकट्ठी होकर अपने मूल रंग को मिटा देते हैं और एक दूसरा ही सुंदर रंग ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार जो लोग सतगुरु की संगति में आ जाते हैं, वे अपने धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के विविध रंगों से मुक्त होकर प्रभुभक्ति के रंग में रँग जाते हैं:

खांड घृत चून* जल पावक एकत्र भए,
पंच मिल प्रगट पंचामृत† प्रगास है।
मृग-मद गौरा‡ चोआ चंदन कुसम दल,
सकल सुगंधि कै अरगजा सुबास है।
चतुर बरन पान चूना औ सुपारी काथा,
आपा खोय मिलित अनूप रूप तास है।
तैसे साधु संगति मिलाप को प्रताप ऐसो,
सावधान पूरन ब्रह्म को निवास है॥¹²

साधु की संगति में आ जाने से गुरु की दया के कारण गुरु की शिक्षा शिष्य के हृदय में घर कर जाती है और उसके अंदर सांसारिक विषयों तथा स्वादों की कामना की बजाय प्रभु का प्रेम आ समाता है:

साधु संग मिलत संसारी निरंकारी होत,
गुरुमत परउपकार कै निवास है॥¹³

जिस प्रकार चंदन के वृक्ष की निकटता किसी साधारण वृक्ष को उसी के जैसा खुशबूदार बना देती है, उसी प्रकार सत्संगति से जुड़े शिष्य में गुरु जैसे गुणों का प्रवेश हो जाता है:

साध संगति चंनण बिरखु मिलि चंनणु होई॥¹⁴

* आटा।

† कड़ाह प्रसाद।

‡ गोरोचन, गाय से उत्पन्न सुगंधि।

एक घड़ी की संगति

हालाँकि मनुष्य-जन्म प्रभु की खोज के लिये ही मिला है और इसके प्रायः एक-एक श्वास को उसके लेखे में लगाने का उपदेश भी किया गया है, परंतु इस खोज के लिये बहुत कम समय मिलने के कारण निराश नहीं होना चाहिये कि अपनी और अपने परिवार की उदरपूर्ति की मजबूरियों और जीवन के अनेक झमेलों के कारण किसी साधना या आराधना के लिये समय नहीं मिल पाता। ऐसे व्यस्त दुनियादारों के लाभ के लिये कबीर साहिब कहते हैं:

कबीर एक घड़ी आधी घरी आधी हूँ ते आध॥

भगतन सेती गोसटे जो कीने सो लाभ॥¹⁵

यही विचार भाई साहिब ने अपनी कलापूर्ण शैली में इस प्रकार प्रकट किया है:

जैसे बोझ भरी नाव, आंगुरी दूय बाहर होय,

पारि परै पूर, सबै कुसल बिहात है*।

जैसे एकाहारी एक घरी पाकशाला बैठ,
भोजन कै बिंजनादि स्वादि कै अघात† है।

जैसे राजद्वार जाय करत जुहार‡ जन,

एक घरी पाछै देस भोगता है खात है।

आठ ही पहर साठ घरी मै जो एक घरी,

साधु समागम करै, निज घर जात है॥¹⁶

नदी में उतारी नाव सवारियों से भरी होती है, उसमें बहुत-सा सामान भी लदा होता है पर केवल दो उँगली पानी से ऊपर होने के कारण वह

* कुसल...है=प्रसन्न होते हैं।

† तृप्त हो जाता है।

‡ दंडवत, वंदना।

अपनी सवारियों को सही-सलामत पार पहुँचा देती है। एकाहारी (दिन में एक बार ही भोजन करनेवाले) लोग कुछ ही मिनट रसोई में बिताते हैं और उतनी देर में ही वे अपनी जिह्वा और पेट दोनों को तृप्त कर लेते हैं। राजदरबार में प्रतिदिन उपस्थित होकर राजा के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये चक्कर लगानेवाले व्यक्तियों को जागीरें प्रदान की जाती हैं और फिर वे उनके सहारे पूरी आयु खाते, पहनते और मौज उड़ाते रहते हैं। इसी प्रकार संतों की संगति में दिन की चौंसठ में से एक घड़ी भी उनका दर्शन करने और उनके वचन सुनने में लगानेवाला श्रद्धालु साधक अपने निज घर पहुँचने का अधिकारी बन जाता है।

संगत की सेवा

जिस प्रकार कूड़े के ढेर में ज़हरीली खुंबी पैदा होती है, उसी प्रकार मैले मन में विकारों के पौधे उगते हैं। अगर अध्यात्मज्ञान का मोतिया जैसा सुगंधित फूल पैदा करना हो, तो हृदय की धरती की गुड़ाई निष्काम सेवा जैसे कर्मों से अवश्य की जानी चाहिये।

सतगुरु की सेवा तो स्वयं परमेश्वर की सेवा होती ही है, उसकी संगत की सेवा से भी अमूल्य फल प्राप्त होते हैं। इस संदर्भ में 'सेवा फल' के शीर्षक में भाई साहिब लिखते हैं:

इंद्र पुरी लख राज नीर भरावणी।

लख सुरग सिरताज गला पीहावणी।

रिधि सिधि निध लख साज चुलि झुकावणी।¹⁷

संगत के लिये पानी भरना लाखों इंद्रपुरियों पर राज करने के समान है, उनके लिये आटा पीसना लाखों स्वर्गों का आनंद प्राप्त करने से कम नहीं और उनका चूल्हा जलाने से लाखों ऋद्धियों, सिद्धियों और निधियों का लाभ प्राप्त हो जाता है।

कुसंगति

पिया हुआ ज़हर कई बार किसी न किसी कारण प्रभावहीन हो जाता है, पर बुरी संगति अपना विनाशकारी रंग दिखाने से नहीं चूकती। इसलिये महापुरुष सदा ही उससे बचने की हिदायत करते रहे हैं। कबीर साहिब ने कहा है:

कबीर साकत संग न कीजीऐ दूरह जाईऐ भाग॥
बासन कारो परसीऐ तउ कछु लागै दाग॥¹⁸

इस प्रसंग में भाई साहिब कहते हैं:

छत्र के बदले जैसे छतना की छांहि* बैठे,
हीरा अमोल बदले फटक क्यों पाइऐ।
जैसे मणि कंचन के बदले काच गुंजाफल,
काबरी पटम्बर के बदले ओढाईऐ॥
सुधा मिष्टान पान के बदले करीफल,
केसर कपूर ज्यों कचूर लै लगाईऐ।
भेटत असाधु सुख सुकृत सूक्ष्म होत,
सागर अथाह जैसे बेली में समाईऐ॥¹⁹

यदि कोई बेसमझ राजछत्र की छाया से उदासीन होकर बहेड़े के पेड़ के नीचे जाकर बैठने की इच्छा करे या अपना अमूल्य हीरा बिल्लौर (सफ़ेद पारदर्शी पत्थर) के टुकड़े से बदल ले या फिर माणिक के स्थान पर शीशा, सोने के बदले बीरबहूटी, रेशमी चादर के बजाय खुरदरा कंबल पहन ले; यदि आम, अंगूर जैसे उत्तम फल छोड़कर करील के फल खाने

* छाया।

शुरू कर दे और केसर तथा कपूर को त्यागकर शरीर पर कचूर* का लेप कर ले, तो इन सब कार्यों के फलस्वरूप उत्तम वस्तुओं के प्रति उसकी रुचि ही नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि उसके धन और स्वास्थ्य की हानि भी होती है। उसी प्रकार बुरे लोगों की संगति के परिणामस्वरूप किसी भी व्यक्ति की शुभकर्म करने में रुचि नहीं रहती, सभी साधन प्रभावहीन हो जाते हैं, मानों किसी अथाह समुद्र का पानी सूखकर केवल एक कटोरी भर रह गया हो।

कुसंगति के संबंध में कबीर साहिब कहते हैं, 'दूरह जाईऐ भाग'॥ कितनी दूर? गुरु रामदास जी के अनुसार:

साकत नर प्राणी सद भूखे नित भूखन भूख करीजै॥
धावत धाए धावह प्रीत माइआ लख कोसन कउ बिथ दीजै॥²⁰

लाखों कोस का फ़ासला। धरती का पूरा घेरा ही पच्चीस हजार मील से अधिक नहीं, गुरु साहिब का आशय है कि साकत यानी मनमुख की संगति कदापि न करो। भाई गुरदास इस हुक्म के स्पष्टीकरण के रूप में बताते हैं, उससे मित्रता करना तो बुरा है ही, शत्रुता का संबंध भी नहीं रखना चाहिये:

कोयला सीतल कर करत स्याम गहे,
परस तप्त पर दग्ध करत है।
कूकर के चाटत कलेवर को लागै छोटि,
पाटत शरीर पीर धीर न धरत है॥
फूटत ज्यों गागर परत ही पाषाण पर,
पाहन हरत पुनः गागर हरत है।

* हल्दी की जाति का पौधा।

तैसे ही असाधु संग प्रीति हूँ बिरोध बुरो,
लोक परलोक दुःख दोख न टरत है॥²¹

यदि स्पर्श करते समय कोयला ठंडा हो, तो भी हाथ को कालिख लग जाती है, तपता हो फिर तो वह जला ही देता है। कुत्ता भले ही प्रेम से चाटता है तो भी शरीर को गंदा कर देता है और अगर क्रोध में काट लें, तब तो असहनीय पीड़ा सहनी ही पड़ती है। जब गागर स्वयं पत्थर पर गिरती है तो उसमें दरार पड़ जाती है, दूसरी ओर जब उस पर पत्थर का आघात होता है, तब भी हानि गागर की ही होती है। इसी प्रकार अगर बुरे आदमी से प्यार किया जाता है, तो पापों की ओर प्रेरित होकर परलोक में कष्ट सहने पड़ते हैं और उससे वैर होने पर इस संसार में दुःख भोगने से नहीं बचा जा सकता।

6

विविध विषय

२

पहले दिये जा चुके मुख्य विषयों के अलावा कुछ और सुसंगत विषयों पर प्रकट किये गये भाई साहिब के क्रीमती विचार जान लेना भी आवश्यक है। उनका वर्णन इस 'विविध विषय' शीर्षक के अधीन किया जा रहा है।

मन

जब खेत में कपास या गेहूँ बोना होता है तो हम बीज डालने से पहले ज़मीन पर कई बार हल चलाते हैं, सुहागा फेरते हैं और उसमें उगे खर-पतवार की जड़ों को चुनकर निकालते हैं। यही नहीं, फ़सल उगने के बाद भी गुड़ाई के द्वारा और कीटनाशक दवाइयाँ छिड़ककर हानिकारक कीड़ों से रक्षा आदि की यह प्रक्रिया जारी रहती है। इस परिश्रम के बिना हमारी लागत और मेहनत व्यर्थ चली जाती है और कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि मन की मलिनताओं पर विचार न किया जाये, तो न महापुरुषों के उपदेश का कोई प्रभाव पड़ता है और न कोई साधना पूरी होती है।

जीव जो भी कार्य करता है, उसके लिये उसका मन ज़िम्मेदार होता है और मन की यह हालत है कि यह तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम), पाँच विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) और इंद्रियों के विषयों

(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) से प्रभावित होता है। मन की चंचल प्रकृति के कारण जीव से अच्छे और बुरे कर्म निरंतर होते ही रहते हैं और उनमें से प्रत्येक कर्म अपने पीछे अपना फल छोड़ जाता है। इन फलों को भोगने के लिये जीव नया जन्म लेता है, जिसमें और नये कर्म भी जुड़ जाते हैं और उनके परिणाम से निपटने के लिये संसार के एक और चक्कर की नींव पड़ जाती है। इस प्रकार एक अटूट लड़ी के रूप में जन्म लेने का सिलसिला जारी रहता है, ख़त्म होने ही नहीं पाता।

भाई गुरदास ने एक स्थान पर कहा है:

मनु पंखेरू धावदा संगि सुभाइ जाइ फल खाहा।¹

जिस प्रकार कोई पक्षी जिधर चाहता है, उधर उड़ता रहता है, इसी प्रकार मन के उलटे-सीधे रास्ते पर चलने पर कोई पाबंदी नहीं लगी है। पर हाँ, उसे सुख-दुःख उसी हिसाब से भोगने पड़ते हैं। जैसा भी कोई व्यवहार करता है, जिस प्रकार के भी मनुष्यों में वह विचरता है, ठीक उसी के अनुसार उसे अंजाम भुगतने पड़ते हैं। कहने का भाव है कि जो चोरों का साथी है वह मार खाने से नहीं बच सकता, पर साधु की संगति कभी न कभी कल्याण का अधिकारी बना ही देती है। आत्मिक उन्नति के लिये मन की शुद्धि कितनी आवश्यक है, भाई गुरदास अत्यंत सुंदर ढंग से इसका वर्णन करते हैं:

दादर-सरोज*, बांस-बावन†, मराल बग,
पारस-पखान, बिखु-अमृत संजोग है।
मृग मृगमद, अहि-मणि, मधु-माखी साखी,
बांझ बधू नाह नेह निःफल भोग है॥

* मेंढक तथा कमल।

† चंदन।

दिनकर जोति उल्लू, बरखै समय जवांसो,
असन बसन* जैसे बृथावन्त रोग है।
तैसे गुरुमत बीज जमत न कालर में,
अंकुर उदोत होत नाहिन, बियोग है॥²

भले ही बाँस चंदन के पास उगा हो, पर वह अन्य वृक्षों की भाँति सुगंधित नहीं होता और न पत्थर पारस का स्पर्श प्राप्त करने से कुंदन के गुण धारण करता है। हलाँकि कस्तूरी मृग की नाभि में होती है, फिर भी उसके किसी काम नहीं आती। दिन के उदय होने पर सूर्य के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो जाता है, परंतु उल्लू उस समय भी कुछ नहीं देख पाता। वर्षा होती है तो सब वन, तृण, हरे-भरे हो जाते हैं, पर जवास का पौधा सूख जाता है। अन्न और वस्त्रों से हर कोई सुख प्राप्त करता है, पर इनके भरपूर मात्रा में मिलने पर भी रोगी की पीड़ा में कोई कमी नहीं आती। इसी प्रकार जिस मन को विषय-विकारों ने बंजर बना रखा हो, उसमें गुरु के उपदेश का अंकुर नहीं फूटता, उससे कोई लाभ नहीं पहुँचता।

जिन कर्मों का लेखा देने के लिये जीव को धर्मराज के कठघरे में खड़ा किया जाता है, उन कर्मों का कर्ता मन है। महापुरुषों के अनुसार यह मन अंधा, बहरा, चंचल, दीवाना, किसी की परवाह न करनेवाला और अनेक अवगुणों से भरा हुआ है। इसकी प्रकृति का अनुमान कराने के लिये इसकी उपमा चंचल मछली से, कुत्ते की टेढ़ी पूँछ से, मस्त हाथी से, कोल्हू साफ़ करनेवाले अति गंदे चीथड़े आदि से दी जाती है। जब तक यह सीधे मार्ग पर न आये, तब तक आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। इसे सुधारना कितना कठिन है, इसका अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता। इसके विषय में भाई साहिब के विचार कुछ इस प्रकार हैं:

* भोजन और वस्त्र।

अन्तर अच्छित ही देसन्तर गवन करै,
पाछै परे पहुँचे न पाइक जो धावई।
पहुँचे न रथ पहुँचे न गजराज बाजि,
पहुँचे न खग मृग फांधत उडावई।
पहुँचे न पवन, गवन त्रिभुवण पति,
अर्ध ऊर्ध अन्तरिक्ष है न पावई॥³

मन हमारी देह के अंदर रहते हुए भी चारों दिशाओं में दौड़ता फिरता है और उसे वापस लाने के लिये उसका पीछा करना किसी भी हरकारे* के लिये संभव नहीं। उसके समान तेज़ गति न किसी रथ के पास है, न इंद्र के हाथी ऐरावत के पास, न सूर्य के घोड़े उच्चैःश्रवा के पास और न किसी पक्षी या लंबी-लंबी छल्लों लगानेवाले हिरन के पास है। पवन बड़ा चंचल माना जाता है, जो आकाश, पाताल और अंतरिक्ष में जहाँ मरज़ी दौड़ता रहता है, पर वह भी उसका स्पर्श नहीं कर सकता।

ऐसा नहीं कि जाग्रत अवस्था में ही मन इधर-उधर उड़ान भरता हो; यह मनुष्य की नींद के समय और सपने में भी अपनी भटकने की आदत से बाज़ नहीं आता। इसे कोई मना करे तो कैसे? यह तो एक पल में तीनों लोकों में घूम आने में समर्थ है। मन गरुड़ से अधिक बलशाली है, परमहंस से अधिक पराक्रमी, ब्रह्मा से अधिक चतुर और चंचलता में बिजली को मात देनेवाला है। जैसे तौल के हिसाब से एक मन (माप तौल की इकाई) में आठ पंसेरियाँ होती हैं, चालीस सेर और एक सौ साठ पाव होते हैं, वैसे ही मन की शक्ति और गतिशीलता का अनुमान लगाने के लिये समझ लो कि इसके आठ बाजू हैं, चालीस हाथ, एक सौ साठ पैर हैं। कोई भी जीव पिंजरे में बंद होते हुए उसकी सीमा से बाहर कहीं नहीं जा सकता, परंतु मन शरीर द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ भी मैदानों, जंगलों, पर्वतों, जल, थल, गाँवों, नगरों में, जहाँ भी चाहे तुरंत जा पहुँचता है:

* दूत, डाकिया।

खगपति* प्रबल पराक्रमी परमहंस,
चातर चतुर मुख† चंचला चपल है।
भुज बली अस्त भुजा, ताके है चालीस कर,
एक सौ सुस्य साठ पाउ चाल चला चल है।
जाग्रत सुपन अहिनिसि दहिदिस धावै,
त्रिभुवन प्रति होइ आवै एक पल है।
पिंजरी मैं अच्छत‡ उडत पहुँचै न कोऊ,
पुर§ पुर पूर¶ गिर तर थल जल है॥⁴

माया की छाया या ओट में कामादिक विकारों में उन्मत्त मन के भूतों ने ऐसी हालत पैदा की हुई है मानों किसी गागर के समान शांत हृदय में लहरों जैसी उथलपुथल मच गई हो। हालाँकि जीवों की उम्र घड़ियों में मापने योग्य बहुत थोड़ी है, फिर भी वे आशाएँ ऐसी लगाकर बैठे हैं, मानो उन्हें युग-युगांतरों तक जीवित रहना हो। इसके अतिरिक्त हर पल उठनेवाली कामनाओं और वासनाओं की प्रबल तरंगें उन्हें चैन नहीं लेने देतीं। अनेक आधि, व्याधि और उपाधि से ग्रस्त हुआ यह मन अब तक इतना बिगड़ चुका है कि गुरु की शरण लेने के सिवाय इसे सुधारने की कोई दूसरी विधि नहीं है:

माया छाया पंच दूत भूत उद्माद ठट,
घट घट घटिका** मैं सागर अनेक है।
औध पल घटिका†† जुगादि परजंत आसा,
लहिर तरंग मैं न तृसना की टेक है॥ ...

* गरुड़।

† ब्रह्मा।

‡ होना।

§ शहर।

¶ गाँव।

** छोटा घड़ा।

†† घड़ी।

आधि कै बिआधि कै उपाधि कै असाध मन,
साधबे को* चरन सरन गुर एक है॥⁵

यदि कोई मनुष्य दो-चार महीने तक अफ़्रीम का सेवन करता रहे तो वह उसका आदी हो जाता है। फिर वह चाहने पर भी उसे खाये बिना नहीं रह सकता। पर मन के साथ एक नहीं, बल्कि काम आदि पाँच दोष भूतों की तरह चिपके हुए हैं और ये गिनती के कुछ महीनों से नहीं, वर्षों-दशकों से भी नहीं, बल्कि जन्म-जन्मांतरों से वे इसके पीछे लगे हुए हैं। किसी असाध्य रोग जैसी इनकी जकड़ से मुक्त हुआ जाये तो कैसे? भाई साहिब का उत्तर है, किसी संत-सतगुरु की संगति में जाकर उनसे मिली शिक्षा के अनुसार चलने से ही युगों का बिगड़ा हुआ यह मन वश में आ सकता है:

पंच दूत भूत लगि अधम असाधु मनु,
गहे† गुरु ज्ञान साधु, संगि बस आवई॥⁶

बेशक मन विषय-वासनाओं का गुलाम है और उसके भटकने का जवाब नहीं, पर अगर उसकी गुरु के चरणकमलों तक पहुँच हो जाये, तो फिर वह उनके संयोग का परम आनंद पाने के लिये वहीं ठहर जाता है। इन चरणकमलों की अनुपम शीतलता, सुगंधि, सुंदरता और मिठास उसे इस प्रकार मोह लेती है कि उसका भटकना सदा के लिये समाप्त हो जाता है। उन्मनी अवस्था को प्राप्त, जगमग जलती जोत और अनहद शब्द की निरंतर धुन में लिव जोड़कर वह सहज समाधि में मग्न रहने लगता है। सतगुरु की दया से इस जोत के प्रकाश और शब्द के संगीत का अनुभव होने के कारण अभ्यासी को केवल परमेश्वर के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं हो जाता, बल्कि वह यह भी जान लेता है कि मैं वही हूँ जो प्रभु स्वयं हैं और अंतर में वह सर्वोच्च अवस्था या परमपद में जा बिराजता है:

* वश में करने के लिये।

† ग्रहण करे।

मन मधुकर* गति भ्रमत चतुर कुंट,
चरन कमल सुख संपट समाईए।
सीतल सुगंधि अति कोमल अनूप रूप,
मधु मकरंद रस, अनत न धाईये॥
सहज समाधि उन्मन जगमग जोति,
अनहद धुनि रुणझुण लिव लाईए।
गुरमुखि बीस इकईस सोहं सोई जानै,
आपा† अपरंपर परम पदु पाईए॥⁷

पत्थर के अंदर आसानी से कोई वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती और हीरा तो उससे भी अधिक सख्त होता है। उसमें पक्के से पक्के लोहे का औज़ार भी नहीं जा सकता। इसलिये अगर कभी हीरे को काटना पड़े तो उसे किसी धातु से नहीं काटा जा सकता, उसके लिये हीरे का ही प्रयोग किया जाता है।

मन का चिड़चिड़ापन, उसकी ज़िद, ढीठपन किसी प्रकार भी हीरे से कम नहीं। उसके विरुद्ध किसी तर्क का, समझाने-बुझाने का ज़ोर नहीं चलता। जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों के द्वारा बनी और पक्की हो चुकी अपनी लीक से वह किसी के हटाये नहीं हटता। हाँ, मन के हीरे को बेधने के लिये सतगुरु के पास उससे भी अधिक शक्तिशाली एक हीरा होता है; वह है—शब्द यानी नाम। वह जिज्ञासु के मन की गहराइयों में उतर जाता है और उसकी चंचलता को नकेल डाल देता है:

हीरै हीरा बेधिआ जोती जोति मिलाई।⁸

इस युक्ति के द्वारा सतगुरु अपने शिष्य की आत्मरूपी जोत को परमात्मा की जोत में मिला देते हैं।

* भँवरा।

† आत्म-ज्ञान।

इंद्रियों के रस

हमारी आँखें हर समय सुंदर रूप, नज़ारे, विभिन्न प्रकार के खेल-तमाशे आदि देखने के लिये उत्सुक रहती हैं। एक बार की देखी हुई वस्तु उनके लिये दूसरी बार पहले जैसी दिलचस्प नहीं रहती, तीसरी-चौथी बार अरुचिकर प्रतीत होने लगती है। इसलिये वे नित नया मनोरंजन ढूँढ़ती हैं।

कानों द्वारा हम अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा सुनना पसंद करते हैं। पर प्रत्येक अवसर पर अच्छा ही सुनने को मिलना संभव नहीं होता। यदि एक सुखदायक बात हृदय को प्रफुल्लित कर देती है तो कोई अन्य शोकमय बात आँसू का कारण भी बन जाती है।

मुँह के स्वाद की खातिर हम विभिन्न प्रकार के चटपटे भोजन खा-पीकर प्रसन्न होते हैं, पर प्रतिदिन ऐसा करते हुए भी खट्टे-मीठे की हमारी लालसा संतुष्ट नहीं होती। इसी प्रकार नासिका अलग-अलग प्रकार की सुगंधों की माँग करती है और कई बार मांस, मछली, शराब आदि की दुर्गंध में भी रस लेने लगती है।

इंद्रियों के रसास्वादन की इच्छा मनुष्य के मन में कभी समाप्त न होनेवाले वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा को जन्म देती है और उसके प्रभाव के अधीन वह कभी स्वस्थ, बलवर्धक पदार्थों के लिये वैद्यों, डॉक्टरों के द्वार खटखटाता है तो कभी अशुभ ग्रहों की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये ज्योतिषियों और तांत्रिकों के पास जाता है। पर अंत में उनके दिलाये हुए पक्के विश्वास केवल बहकावा ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि मृत्यु ने तो आखिर आना ही होता है, वह किसी के रोकने से नहीं रुकती।

वास्तव में इंद्रियों के भोग जितना चाहे भोग लिये जायें, हमें तृप्त नहीं कर सकते। उनकी भूख कभी नहीं मिटती। यदि किसी को स्थायी शांति, अविनाशी सुख, परम आनंद की कामना है तो उसे चाहिये कि पूरे गुरु से सच्चे मन से प्रीति करे। उसकी दया-मेहर मिल जाने के बाद किसी प्रकार की कोई तृष्णा बाक़ी नहीं रहती*:

* जितड़े फल मन बाछीअह तितड़े सतगुर पास॥¹

अखी वेखि न रजीआ बहु रंग तमासे।
उसतति निंदा कनि सुणि रोवणि तै हासे।
सादी जीभ न रजीआ करि भोग बिलासे।
नक न रजा वासु लै दुरगंध सुवासे।
रजि न कोई जीविआ कूड़े भरवासे।
पीर मुरीदां पिरहड़ी सची रहवासे॥²

बुरी आदतें

कबीर साहिब के कथनानुसार किसी व्यक्ति ने चाहे जितने भी तीर्थ, स्नान, व्रत, यज्ञ, नियम आदि शुभ कर्म अपने जीवन में किये हों, परंतु मांसाहार और मदिरापान से वे सब के सब व्यर्थ चले जाते हैं:

कबीर भांग माछुली सुरा पान जो जो प्रानी खांहे॥
तीरथ बरत नेम कीए ते सभै रसातल जांहे॥¹

इसी प्रकार गुरु अमरदास जी ताड़ते हुए कहते हैं:

जित पीतै मत दूर होए बरल पवै विच आए॥
आपणा पराइआ न पछाणई खसमहो धके खाए॥
जित पीतै खसम विसरै दरगह मिलै सजाए॥
झूठा मद मूल न पीचई जे का पार वसाए॥²

भाई गुरदास की वाणी में मदिरा के दोषों के बारे में स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

एक अन्य स्थान पर कृतघ्न के प्रसंग में इसका वर्णन आता है, मद विचि रिधा पाइ कै कुते दा मासु।³ यहाँ भाई साहिब ने यह बताना चाहा है कि अगर कुत्ते के मांस जैसी निकृष्ट वस्तु पानी के बजाय शराब में पका ली जाये, तो वह और भी घृणित हो जाती है। फिर ऐसी गंदी वस्तु का सेवन किया जाये तो क्यों?

प्रभु के बनाये अपने जैसे अन्य जीवों की केवल स्वाद के लिये हत्या करना भी हर प्रकार से निंदा के योग्य दुष्कर्म है। गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं:

जे रत लगै कपड़ै जामा होए पलीत॥

जो रत पीवह माणसा तिन किउ निरमल चीत॥⁴

गुरु अर्जुन देव जी ने इन मुर्दा जीवों का मांस खानेवाले लोगों को पशुओं और प्रेतों की अधम श्रेणी में शामिल करते हुए कहा है:

गैबान हैवान हराम कुसतनी मुरदार बखोराए॥⁵

भाई गुरदास मांस खाने के प्रति अपना विचार प्रकट करने के लिये एक बकरी के मुख से कहलवाते हैं:

कुहै कसाई बकरी लाइ लूण सीख मास परोआ।

हसि हसि बोलै कुहीदी खाधे अकु हाल इह होआ।

मास खाण गल छुरी दे हाल तिनाड़ा कउण अलोआ॥⁶

“यदि मैं आक के पत्ते खाकर गुज़ारा करनेवाली होने पर भी मारी जाकर कबाबों के रूप में तली जा रही हूँ, तो जो मनुष्य अपने पेट की भूख मिटाने के लिये दूसरे जीवों के गलों पर छुरी चलाने से नहीं हिचकिचाते, उनकी क्या दशा होगी?”

कबीर साहिब कहते हैं:

कबीर सुपनै हू बरड़ाए कै जिह मुख निकसै राम॥

ता के पग की पानही मेरे तन को चाम॥⁷

वे यहाँ यह नहीं बताते कि यदि आपने सचेत होकर परमात्मा को याद किया हो तो उसका क्या फल मिलेगा; बल्कि वे केवल यह कहते हैं कि यदि अनजाने, सोते हुए, आपके मुँह से परमात्मा का नाम निकल जाये, तो मेरे लिये आप महात्मा के समान सत्कार योग्य हो जायेंगे।

उन्होंने सपने में बोले ‘राम’ की इतनी महत्ता यह जानते हुए ही दी थी कि नींद में ‘राम-राम’ वही मनुष्य बड़बड़ायेगा जो जागते हुए हर पल ‘राम-राम’ जपता रहा हो। यही भाव प्रकट करने के लिये भाई गुरदास कहते हैं, जब किसी नशे के आदी विकारी मनुष्य के प्राण निकल रहे हों तो वह यही कहेगा—मेरा गला सूख रहा है, मेरे मुँह में दारू डालो:

अधम असाध जैसे बारनी बिनास काल,

साध संग गंग मिलि सुजन भिलाखई॥⁸

तृष्णा

परमात्मा की कुदरत कुछ ऐसी है कि उसकी दया के बिना किसी को अपने इस जन्म का मूल उद्देश्य याद नहीं आता, क्योंकि किसी भी साधन द्वारा सुख लेना या खुशी प्राप्त करना उसे अच्छा लगता है। वह पूरे समय स्वादों का रस लेने में ही मग्न रहता है। खुले आकाश के नीचे पटरी पर सोनेवाले निर्धनों के मुकाबले झोंपड़ी में रहनेवालों को अधिक आराम मिलता है और कोठरी के बजाय कोठी या बँगले के मालिक को और अधिक सुख प्राप्त होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मैं अधिक से अधिक सुविधापूर्ण निवासस्थान बनाऊँ। चार पैसे पल्ले हों तो जीवन कई तरह से सुखी हो जाता है; मान-सम्मान मिलने लगता है। फिर धन कमाने की हवस कैसे न जागे? इसी प्रकार की एक अन्य कमज़ोरी कामवासना है, जिसका शिकार होने से आम तौर पर लोग नहीं बच पाते। तृष्णा से पीड़ित मनुष्य की स्थिति का भाई गुरदास इन शब्दों में वर्णन करते हैं:

लख गड़ाइ कड़ाह विचि त्रिसना दझहि सीख परोआ।¹

जिस प्रकार बड़वाग्नि की अत्यधिक तपन में समुद्र तक जल जाते हैं, उसी प्रकार अनेक जीव लोहे की सलाइयों में पिरोये कबाबों के समान तृष्णा की आग में जल-भुन रहे हैं।

पाँच विकारों की प्रमुख रूप से गिनती की जाती है और वे सभी अपने-अपने स्थान पर घातक हैं, परंतु इनमें से लोभ और काम का सीधा संबंध 'कनक और कामिनी' से है। उनका प्रभाव अत्यंत प्रबल है। क्योंकि धन के माध्यम से कितनी ही प्रकार की इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, इसलिये लोग उसे हथियाने के लिये कोई भी अपराध करने को तैयार हो जाते हैं—हत्या, डाका, ठगी, चोरी, जेब काटना, धोखाधड़ी, चोर-बाज़ारी, इत्यादि। परंतु धन का एक नाम माया भी है। उसके लिये भले ही कितने भी प्रयत्न किये गये हों, फिर भी वह अपने स्वामी का साथ नहीं निभाती, वफ़ादार नहीं रहती:

जैसे मधु माखी सींच सींच कै इकत्र करै,
हरै मध आय ताके मुख छारि डारि कै*।
जैसे बच्छ हेत गौ सन्वत है क्षीर,
ताहि लेत है अहीर दुह बच्छरे बिडारि कै†।
जैसे धर खोदि खोदि करि बिल साजै मूसा,
पैसत सर्प धाय खाय ताहि मारि कै।
तैसे कोटि पाप करि माया जोरि जोरि मूढ़,
अन्तकाल छाडि चले दोनो कर झारि कै॥²

मधुमक्खी हजारों फूलों से बूँद-बूँद शहद इकट्ठा करती है, पर फिर कोई लुटेरा आता है और पूरा छत्ता एक ही बार लूटकर ले जाता है। गाय दिन भर घास-फूस चरकर अपने बछड़े के लिये दूध पैदा करती है और अहीर उसके बच्चे को एक तरफ़ धकेलकर सारा दूध दुह लेता है। चूहा बड़े हठ और परिश्रम से ज़मीन कुरेद-कुरेदकर अपने लिये बिल तैयार करता है और साँप ज़बरदस्ती उस बिल का मालिक ही नहीं बन जाता,

* राख।

† दूर हटाकर।

बल्कि उसके खोदनेवाले को भी खा लेता है। इसी प्रकार लोभी पुरुष अनेक पाप करके धन-दौलत जोड़ता है, परंतु जब अंत समय आता है, तब उसे पल्ला झाड़कर खाली हाथ जाना पड़ता है। उसकी बेशुमार और अति प्रिय माया उसके साथ छल करने से नहीं चूकती।

कपटपूर्ण स्नेह

आज की दुनिया में यह कोई आश्चर्य नहीं, बल्कि प्रतिदिन होनेवाली आम घटना है कि किसी पुत्र ने चापलूसी द्वारा पैर दबाकर, सेवा करके पिता की संपत्ति अपने नाम करवा ली और फिर यह भी भूल गया कि यह बूढ़ा कभी मेरा कुछ लगता था। जैसे कि पहले के विवरण में आ चुका है, गुरु का शब्द लाख संपत्तियों की एक संपत्ति है, पर इसकी दात पाकर निश्चित होकर सोना नहीं चाहिये। शिष्य का फ़र्ज़ बनता है कि गुरु की बताई हुई शिक्षा के अनुसार निर्मल आचरण का पालन करे और शब्द के अभ्यास की ओर से लापरवाह न हो। जब किसी पशु की चोरी हो जाती है, तो होशियार खोजी उसके पैरों के निशान के पीछे जाते समय जूते नहीं पहनता, क्योंकि जूतों की वजह से पहचान के निशान मिट जाने का भय होता है और फिर खोज का कोई लाभ नहीं रहता। जो पत्नी अपने पति के सेज पर पधारने के समय सोती रहे और उसकी सेवा का शुभ अवसर गँवा दे, वह सुबह होने पर दुःखी हृदय से हाथ मलती ही रह जाती है। यदि पपीहा बरस रही वर्षा में चोंच न खोले तो वर्षा थम जाने पर उसके पल्ले बिलखना ही आयेगा। इसी प्रकार यदि शिष्य गुरु की दात 'शब्द' प्राप्त करके भी मनमुखता का पल्ला न छोड़े, तो यह उसका बहुत बड़ा दुर्भाग्य होगा, क्योंकि गुरु से कपट स्नेह जतानेवाले मूर्ख को पश्चात्ताप के सिवाय और क्या प्राप्त हो सकता है:

खोजी खोज देखि चल्या जाय पहुँचे ठिकाने,
आलस बिलम्ब कीऐ खोज मिट जात है।
सेजा समय रमै भर्तार बर नारि सोई,
करै जो अवज्ञा न मानै प्रगटत प्रात है।

बर्षत मेघ जल चात्रिक तृप्त पीए,
मोन गहे बर्षा बतीते बिललात है।
सिख सोई सुन गुरु शब्द रहत रहै,
कपट सनेह कीए पाछै पछुतात है॥¹

विद्या और वाद-विवाद

सभ्यता के उदय होने के साथ ही विद्या का प्रसार हुआ और इसके द्वारा ज्ञानप्राप्ति की दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई, इतनी कि वर्तमान युग में विद्याविहीन व्यक्ति अपने जीवन के मार्ग पर चलने में असमर्थ है, वह तो मानों एक विकलांग की भाँति घुटनों के बल धड़ को घसीटता है। फिर भी हम देखते हैं कि संत-सतगुरुओं को पढ़ने के विरुद्ध बार-बार कुछ कहना पड़ा है, मानो पहले का कहा हुआ हर बार कम ही प्रतीत होता है। एक उदाहरण लीजिये, लिख लिख पढ़िआ॥ तेता कड़िआ॥¹ परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे निरक्षरता का प्रचार कर रहे थे। वास्तव में उन्होंने पढ़ने का विरोध नहीं किया, बल्कि पुस्तकीय विद्या को अपने आप में अंतिम प्राप्ति समझकर उससे संतुष्ट हो जाने या अन्य शिक्षित व्यक्ति के मुकाबले स्वयं को श्रेष्ठ कहलाने में, या फिर दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं पर गर्व करने का विरोध किया है:

पढ़ पढ़ पंडित करह बीचार॥
बिन बूझे सभ होए खुआर॥²

पढ़ पढ़ लूझह बाद वखाणह मिल माइआ सुरत गवाई॥³

इस प्रकार के किताबी ज्ञान के संबंध में भाई गुरदास लिखते हैं:

खांड खांड कहै जिहबा न स्वाद मीठो आवै,
अगनि अगनि कहै सीत न बिनास है।
वैद वैद कहै रोग मित न काहूँ को,

द्रव्य द्रव्य* कहै कोऊ द्रवहि न बिलास है।
चन्दन चन्दन कहत प्रगटै न सुबास बासु,
चन्द चन्द कहै उज्यारो न प्रगास है।
तैसे ज्ञान गोष्टि कहत न रहत पावै,
करनी प्रधान भानु उदति† अकास है॥⁴

केवल चीनी का शब्द मुख से उच्चारण किये जाने से मिठास का स्वाद नहीं लिया जा सकता, न ही 'अग्नि-अग्नि' कहने से सर्दी से बचाव होता है। वैद्य-वैद्य की दुहाई लगाने से किसी बीमारी का इलाज नहीं होता, न 'धन-धन' की पुकार किसी को धनवान होने की खुशी दे सकती है। 'चंदन' वृक्ष का बार-बार नाम लेने से सुगंधि उत्पन्न नहीं हो सकती और न चौंद को याद करने से प्रकाश का उदय होता है; इसी प्रकार ज्ञान की बातें विशुद्ध आत्मिक जीवन का रूप नहीं ले सकतीं, परमार्थ का कार्य तो करनी द्वारा ही शोभा देता है। नाम के अभ्यास के बिना अंतर में शब्द की जोत दीप्तिमान नहीं होती।

निंदा

परिचित या अपरिचित किसी भी व्यक्ति की निंदा करने का मूल प्रयोजन अपने अहं को बढ़ावा देना है। दूसरे व्यक्ति पर कीचड़ उछालकर निंदक अपनी बुराई को छिपाने और स्वयं को उससे अच्छा सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। पर दूसरों का दोष निकालना तारों पर थूकने जैसा कर्म है। जिस प्रकार थूकनेवाले के मुँह का थूक उसके अपने ही मुँह पर आ गिरता है, उसी प्रकार निंदक जिस बुराई की निंदा कर रहा है, उसकी सज़ा का वह स्वयं भागीदार बन जाता है। इसलिये कबीर साहिब कहते हैं, निंदा हमरी प्रेम पिआर॥ निंदा हमरा करै उधार॥¹ पर दूसरों की बुराइयाँ उजागर करने

* धन।

† प्रकाशमान।

का अपना ही स्वाद होता है, इसलिये मनमुख लोग अपनी यह आदत छोड़ना चाहें तो भी छोड़ नहीं पाते। भाई गुरदास लिखते हैं:

कुता राजि बहालीऐ फिरि चकी चटै।
सपै दुधु पीआलीऐ विहु मुखहु* सटै।
पथरु पाणी रखीऐ मनि हटु न घटै।
चोआ चंदनु परिहरै खरु† खेह पलटै।
तिउ निंदक परनिंदहू हठ मूलि न हटै।
आपण हथीं आपणी जड़ आपि उपटै॥²

यदि कुत्ता राजा के मन को भा जाये और उसके बराबर गद्दी पर बैठने लग जाये और इस प्रकार उसे अत्यधिक रसमय पदार्थ खाने को भी मिलते रहें, तो भी वह अपनी आदत के कारण चक्की पर जिह्वा फेरने से बाज़ नहीं आयेगा। साँप दिन-रात दूध पीता रहे, तब भी उसके मुँह से जब भी निकलेगा, ज़हर ही निकलेगा। पत्थर को चाहे कितना ही पानी में डुबोकर रखें, उसकी कठोरता में कभी कमी नहीं आती। गधे पर चंदन के इत्र का लेप कर दें तो भी वह धूल में लोटना ही पसंद करेगा। इसी प्रकार निंदक दूसरों की बुराई करने की आदत कभी नहीं छोड़ता, चाहे ऐसा करने के लिये उसे अपना सर्वनाश ही क्यों न करना पड़े।

कबीर साहिब ने भी एक स्थान पर कहा है:

पर धन पर तन पर ती निंदा पर अपबाद न छूटै॥
आवा गवन होत है फुन फुन इह परसंग न तूटै॥³

परायी निंदा, परस्त्री गमन जैसे कुकर्म करने से जीव जन्म-मरण के चक्र में बँधा रहता है। भाई गुरदास जी कहते हैं:

* मुख से।
† गधा।

जैसे बिषु तनुक ही खात मरि जात तात*,
गात† मुरझात प्रतिपालि बर्षन की।
महषि‡ दुहाय दूध राखीऐ भाँजन भरि,
परत कांजी की बूंद बात न रखन की।
जैसे कोटि भारि तूल§ रंचक चिनग परे,
होत भस्मात॥ छिन में अकर्षण की।
तैसे परतन परधन दूषना बिकार किये,
हरै निधि सुकृत सहज हर्षन की॥⁴

कोई व्यक्ति थोड़ा-सा भी ज़हर खा ले तो उसके प्राण निकल जाते हैं और उसकी वर्षों से लाड़-प्यार से पाली हुई देह एकदम मुरझा जाती है। रूई की करोड़ों गाँठों में आग की छोटी-सी चिनगारी आ गिरे, तो उन्हें जलाकर राख का ढेर करते उसे देर नहीं लगती। भैंस का दूध दुहकर बर्तन में सँभालकर रख लिया जाये पर उसमें खटाई की बूँद मिल जाये, तो वह तुरंत फट जाता है और काम का नहीं रहता। इसी प्रकार पराया धन हथियाना, परायी स्त्री से संबंध जोड़ना और अन्य लोगों की निंदा-चुगाली करने से आत्मिक आनंद देनेवाले सभी शुभ कर्मों की पूँजी नष्ट हो जाती है।

बात चाहे सच्ची हो, फिर भी किसी दूसरे की बुराई करना, बुरा कर्म है। कोई मैली मति वाला मनमुख ही यह कर्म करता है, निंदा भली किसै की नाही मनमुख मुगध करन॥⁵ हालाँकि निंदक चाहे स्वयं रोम-रोम से बुरे हों, लेकिन वे भले पुरुषों के गुणों को भी अवगुण के रूप में देखते हैं और उन्हें छोटा सिद्ध करने में ही जुटे रहते हैं। पर गुरु का शिष्य किसी भी व्यक्ति को बुरा नहीं समझता:

* प्रिय।
† शरीर।
‡ भैंस।
§ रूई।
॥ राख का ढेर।

आपहु किसै न जाणै मंदा॥⁶

इसलिये दूसरों की निंदा करने के लिये उसकी ज़बान कभी नहीं खुलती।

कर्मों की धरती

प्रभु के द्वार पर स्वीकृत किये जाने के लिये कौन-सी विधि कारगर होती है, इस विषय में संसार के जीव अनेक भ्रमों के शिकार हुए फिरते हैं। किसी का विचार है कि ब्रह्मचर्य धारण करने से कल्याण हो जाता है, कोई अपने शरीर को चारों ओर जलाई आग में तपाने, कोई इसे बफ़्रीले पानी में ठिठराने और कोई उपवास द्वारा शुद्ध करने को उत्तम कर्म मानता है। धर्म पुस्तकों, शास्त्रों आदि को बार-बार पढ़ना; कुछ विशेष मंत्रों को बार-बार दोहराना; होम, यज्ञ, पुण्य, दान में धन आदि देना; वीरों, योगिनियों जैसी नीचे के मंडलों की अदृष्ट शक्तियों को पूजना; प्राणायाम, नेति, धौति जैसे हठकर्मों में जुटे रहना, अपनी भटकती इंद्रियों को केवल हठ के बल पर दबाना या कुचलना, ऋद्धियों, सिद्धियों और निधियों को अपनी मंज़िल के मील का पत्थर मानकर उनके इर्दगिर्द चक्कर लगाना, इन भूले-भटके लोगों के कई मनपसंद कर्मों में से कुछ हैं। पर सच तो यह है कि गुरु का सहारा लेकर शब्द की कमाई किये बिना इनमें से कोई बड़े से बड़ा धर्मात्मा प्रतीत होनेवाला व्यक्ति भी सचखंड नहीं पहुँच सकता:

जत सत संजम होम जग जपु तपु दान पुन बहुतेरे।
रिधि सिधि निधि पाखंड बहु तंत्र मंत्र नाटक अगल्लेरे।
वीराराधण* जोगणी मढ़ी मसाण विडाण† घनेरे।

* वीरों की पूजा।

† भिन्न-भिन्न, आश्चर्यजनक।

पूरक कुंभक रेचका* निवली† करम भुइअंगम‡ घेरे।
सिधासण परचे घणे हठ निग्रह कउतक लख हेरे।
पारस मणी रसाइणा करामात कालख आन्हरे।
पूजा वरत उपारणे वर सराप सिव सकति लवेरे।
साधसंगति गुर सबद विणु थाउ न पाइनि भले भल्लेरे।
कूड़ इक गंढी सउ फेरे॥¹

गुरु अर्जुन साहिब ने कहा था कि हमारा जीवन हमें कर्मबीज बोने के लिये मिले खेत के समान है। इसमें जिस प्रकार का बीज बोया जाता है, उसी प्रकार की फ़सल पैदा होती है:

जेहा बीजै सो लुणै करमा संदड़ा खेत॥²

भाई गुरदास ने अपनी वाणी में गुरु अर्जुन साहिब के शब्द लगभग उसी प्रकार दोहरा दिये हैं:

जेहा बीजै सो लुणै जेहा बीउ तेहा फलु पाई।³

फ़रीद साहिब को साधारण मनुष्य की इच्छाओं और करनी में अंतर्विरोध का ख़याल आया तो वे बोल उठे:

फरीदा लोड़ै दाख बिजउरीआं किकर बीजै जट॥
हंढै उंन कताइदा पैधा लोड़ै पट॥⁴

यदि किसी बाग़वाले का मन अंगूर खाने का हो, तो उसे बबूल नहीं उगाना चाहिये और न ऊन के लच्छे टेरेनेवाले को रेशम पहनने की आशा रखनी चाहिये। इसी विचार को प्रकट करने के लिये भाई साहिब कहते हैं:

* पूरक...रेचका=स्वास चढ़ाना, रोकना, छोड़ना।

† एक योगिक क्रिया।

‡ कुंडलिनी नाड़ी।

अगी फल होवनि अंगिआरा॥⁵

जिस व्यक्ति की रुचि दूसरे के घरों या खलिहानों में आग लगाना है, उसकी झोली में इस कर्म के बदले अंगारे पड़ेंगे और जिसने धतूरे या आक की फ़सलें पैदा की हैं, उसे घी और शक्कर की चूरी (स्वादिष्ट भोजन) खाने को कदाचित् नहीं मिलेगी:

बीजै विसु न खावै चूरी॥⁶

कर्मों के इस लेखे में भूल-चूक की कोई गुंजाइश नहीं होती:

जो बीजै सोई फलु खाए॥⁷

संसार की असारता

जो अनोखे दृश्य हम अपने सपनों में देखते हैं, वे केवल थोड़ी देर के लिये होते हैं। सपने में ही जो देख लिया सो देख लिया, दोबारा जाग्रत अवस्था में वे दिखाई नहीं देते। जो तारा-मंडल रात भर आकाश में बिछौने की भाँति बिछा रहता है, वह प्रभात के आगमन पर कहीं देखने को नहीं मिलता। वृक्षों की छाया सूर्य के उदय और अस्त के अनुसार छोटी-बड़ी होती रहती है, बिजली एक क्षण चमकती है और फिर दूसरे क्षण लोप हो जाती है। किसी त्योहार के समय किसी विशेष तीर्थयात्रा के लिये जितने लोग जाते हैं, साधारण दिनों में उनका दसवाँ या बीसवाँ भाग भी वहाँ नहीं होता; किसी एक दिन नदी पार करने के लिये नाव में इकट्ठे हुए मुसाफ़िर उसी समूह के रूप में फिर कभी इकट्ठे नहीं होते। गंधर्वनगर (माया-नगरी), जिसका भ्रम यात्रियों को वर्षा होने के बाद कभी-कभी हो जाया करता है और कड़कती धूप में प्यासे हिरनों को जलती रेत में जो जल दिखाई देने लगता है, वे यथार्थ में कहीं मौजूद नहीं होते, उनका अस्तित्व केवल दृष्टि का भ्रम होता है। इसी प्रकार न तो माया कभी किसी की अपनी बनी है और न परिवार के सदस्य ही अपने बने हैं; और तो और अपना शरीर भी अंत समय साथ छोड़ देता है। इन सबका प्यार

अविश्वसनीय, कपटपूर्ण होता है। गुरुमुख इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित होने के कारण किसी व्यक्ति या वस्तु के मोहजाल में नहीं फँसते; वे अपनी सुरत को निरंतर शब्द में जोड़े रखते हैं:

सुपन चरित्र चित जागत न देखियत,
तारका मंडल परभात न दिखाईयै।
तरुवर* छाइआ लघु दीरघ चपल बल,
तीरथ पुरब जात्रा थिर न रहाईयै॥
नदी नाव को संजोग लोग बहुरयो न मिलै,
गंधर्व नगर† मृग तृसना बिलाईयै।
तैसे माया मोह धोह कुटंब सनेह देहि,
गुरुमुख सबद सुरति लिव लाईयै॥¹

मनुष्य-शरीर

शरीर से अत्यधिक मोह करने में कोई समझदारी नहीं है और न इसकी सुंदरता या पुष्टता पर घमंड करना उचित है। हालाँकि लंबी आयु की कामना करना साधारण मनुष्यों की आम कमज़ोरी है, परंतु वे यह नहीं सोचते कि उनकी आयु में वृद्धि हो भी जाये तो भी अंत समय आखिर कितनी दूर चला जायेगा। फूस की आग जलते ही बुझ भी जाती है; पेड़ की छाया आई और ढल गई। इसी प्रकार मनुष्य-शरीर को ख़त्म होते देर नहीं लगती। इस कच्चे घड़े से समय की बाढ़ का मुक्ताबला नहीं किया जा सकता:

त्रिण की अगनि जरि बूझत न बार लागै,
ऐसो आवा औधि‡ जैसे नेहु ठुम छाइआ को॥¹

* वृक्ष।

† माया-नगरी, काल्पनिक लोक।

‡ अवधि, हद, सीमा।

पानी का बुलबुला या ओला देखते ही देखते नष्ट हो जाता है। देह के स्थायित्व के बारे में यदि ऐसा ही कोई भ्रम हो तो उससे मुक्त हो जाने में ही भलाई है:

जैसे बुदबुदा ओरा पेखत बिलाइ* जाइ,
ऐसो जानि तिआगहु भरोसो भ्रम काइआ को॥²

यह केवल शरीर की ही बात नहीं, बल्कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिस पर विश्वास किया जा सके। अपने रिश्तेदारों तथा मित्रों से भी हमारा वैसा ही संबंध होता है, जैसा नदी पार करने के लिये नाव में इकट्ठे हुए यात्रियों का आपस में होता है; किनारा आया कि सभी अलग-अलग हो गये। हुकूमतें और धन-संपत्तियाँ भी उसी प्रकार क्षणभंगुर सिद्ध होती हैं, जिस प्रकार सपने में हाथ लगी कोई वस्तु। जैसे बड़े से बड़े, घने से घने वृक्ष की छाया को अवश्य ढल जाना होता है, वैसे ही हर खुशी अंत में शोक में बदल जाती है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए सतगुरु का शिष्य अहंकार का शिकार नहीं होता और न वह किसी तरह से अपनी प्रभुता या श्रेष्ठता का दिखावा करता है:

नदी नाव संजोगु मेलि मिलाइआ।
सुहणे अंदरि भोगु राजु कमाइआ।
कदे हरखु कदे सोगु तरवर छाइआ।
कटै हउमै रोगु न आपु गणाइआ।³

स्नान

भाई साहिब की रचनाओं में स्नान का उल्लेख बार-बार आया है, जैसा कि 'सिक्ख की नित कमाई' के प्रकरण में कहा गया है:

पिछल राती जागणा नामु दानु इसनानु दिड़ाए।¹

* खत्म हो जाता है।

तथा:

नाम दानु इसनानु द्रिड़ साधसंगति मिलि अंग्रित वेला।²

नामु दानु इसनानु द्रिड़ गुरु सिख दे सैंसारु तराइआ।³

परंतु इसका भाव यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे केवल शरीर साफ़ करने को ही कोई पुण्य कर्म मानते थे, बिल्कुल नहीं। आपने 36वीं वार की 14वीं पौड़ी की पहली पंक्ति में ज़ोर देकर कहा है:

मिलै जि तीरथि नातिआं डडां जल वासी।⁴

अर्थात् साधारण पानी की बात छोड़ें, अगर पवित्र कहे जानेवाले तीर्थों पर स्नान करने से ही प्रभु मिल जाता हो, तो सबसे पहले मेंढकों को प्रभु से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता, जो चौबीस घंटे पानी में ही रहते हैं, एक पल उससे अलग नहीं होते। स्नान से आपका आशय सुध कहा होए काची भीत॥⁵ काया को साफ़ करने से नहीं, मन और बुद्धि की मैल उतारने का प्रयत्न करने से है:

गुरु सिखी दा नावणा गुरमति लै दुरमति मलु धोवै।⁶

कई लोगों का विश्वास है कि गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम अर्थात् प्रयाग में स्नान से मन की मलिनताएँ धुल जाती हैं, आत्मा पवित्र हो जाती है। हालाँकि इस प्रकार का स्नान तो कोई भी कर सकता है; बस थोड़ा-सा समय और धन खर्च करने की बात है। पर जो असली त्रिवेणी है, उस तक इतनी सरलता से नहीं पहुँचा जा सकता। उसके लिये विषय-वासनाओं से मुख मोड़कर और पूर्ण एकाग्रचित्त होकर प्रभु की आराधना करनी आवश्यक है और इस आराधना के बल पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के क्षेत्र को पार करके त्रिकुटी की सीमा के पार जाना होता है:

इड़ा पिंगुला सुखमना त्रिकुटी लंघि त्रिवेणी न्हाए।⁷

हमारे देश की प्रचलित धारणा के अनुसार कुछ नदियों का पानी विशेष ऐतिहासिक या पौराणिक कारणों से पवित्र माना जाता है। इसी प्रकार कई कुओं, तालाबों का जल भी शुद्ध समझा जाता है, क्योंकि वे किसी विशेष स्थान पर खोदे या निर्मित किये गये हैं। लोग मानते हैं कि इनके पावन जल में स्नान करने से पिछले पाप नष्ट हो जाते हैं, बल्कि मुँहमाँगी मुरादें भी प्राप्त हो जाती हैं। यदि इस पानी में किसी शुभ मानी गई तिथि, पर्व या मुहूर्त में डुबकी मार लें, तो और भी अधिक लाभ प्राप्त हो जाने की बात कही जाती है। उदाहरण के तौर पर: अक्षय (आखा) तीज, बसंत पंचमी, जन्माष्टमी, निर्जला एकादशी, हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक के कुंभ।

पर श्री गुरु नानक साहिब ने जपु जी साहिब में स्पष्ट कर दिया है कि पानी से तो केवल शरीर का बाहरी मैल ही धोया जा सकता है, भरीऐ हथ पैर तन देह॥ पाणी धोतै उतरस खेह॥⁸ कपड़े को भी अगर मल-मूत्र लग जाये तो साबुन के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, मूत पलीती कपड़ होए॥ दे साबूण लईऐ ओह धोए॥⁹ और यदि गंदगी अंदर की हो यानी मन और बुद्धि की तो फिर साबुन आदि भी कारगर नहीं होता; उसके लिये नाम यानी शब्द का सहारा लेना पड़ता है, भरीऐ मत पापा कै संग॥ ओह धोपै नावै कै रंग॥¹⁰ पानी भले ही कुएँ का हो, सरोवर या नदी का, वह अंतर की शुद्धि के लिये एक ही जैसा प्रभावहीन रहता है। मन को पवित्र करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये गुरु अमरदास जी सच्चे अमृतसर का जिक्र करते हैं, जो प्रत्येक मनुष्य को अपनी देह के अंदर मिलता है:

काइआ अंदर अंप्रित सर साचा मन पीवै भाए सुभाई हे॥¹¹

जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के कुछ अभिलाषी दही में पेड़े को मिलाकर अपनी लस्सी को और अधिक पौष्टिक बना लेते हैं, उसी प्रकार स्नान करके अधिक पुण्य कमाने के इच्छुक भी अपनी तीर्थयात्रा के दौरान व्रत रखते हैं, जप-तप करते हैं, धर्मग्रंथ पढ़ते-सुनते हैं, विधि के अनुसार देवी-देवताओं की पूजा इत्यादि करते हैं। पर भाई गुरुदास जी के अनुसार

ऐसा उद्यम उसी प्रकार का कपटभरा प्यार होता है, जैसे मेंढक पकड़ने के लिये लगाई गई बगुले की समाधि या किसी शिकारी का मृग की घात में झुककर चलना। ऐसे लोगों के हाथ कोई फल नहीं आता। वे अनाड़ी और अभागे लोग यह नहीं जानते कि सही मार्ग तो गुरुमुखों की संगति में पहुँचकर उनके मार्गदर्शन के अनुसार शब्द का अभ्यास करना है:

तीरथि पुरबि संजोग लोग चहु कुंडां दे आइ जुड़ंदे।
चारि वरन छिअ दरसना नामु दानु इसनानु करंदे।
जप तप संजम होम जग वरत नेम करि वेद सुणंदे।
गिआन धिआन सिमरण जुगति देवी देव सथान पूजंदे।
बगा बगे कपड़े करि समाधि अपराधि निवंदे।
साध संगति गुर सबदु सुणि गुरुमुखि पंथ न चाल चलंदे।
कपट सनेही फलु न लहंदे॥¹²

तीर्थयात्रा का फल तभी सार्थक होता है, जिससे संत-सतगुरु के दर्शन प्राप्त हो जाए:

तीरथ न्हातै पाप जानि पतित उधारण नाउ धराइआ।
तीरथ होन सकारथे साध जना दा दरसनु पाइआ।¹³

भाई गुरुदास कहते हैं:

धूड़ी लेखु मिटाइआ चरणोदक मनु वसिगति आइआ।¹⁴

गुरुमत में संतों के चरणों की धूलि से तात्पर्य सतगुरु के उस ज्योतिर्मय स्वरूप से होता है जिसके दर्शन अभ्यासी को अपने अंतर में होते हैं। इसी प्रकाश में अभ्यासी की आत्मा का सराबोर हो जाना चरणोदक अथवा चरणामृत लेना कहा जाता है। यह आंतरिक अनुभव चंचल मन पर जंजीरें डाल देता है, उसे स्थिर कर देता है।

पाना और छिपाना

शिष्य का अपने सतगुरु या आत्मा का अपने परमात्मा से परम पावन संबंध होता है, तो भी क्या इसके बारे में ढोल पीटना उचित है? इस विषय में तो ज़बान तक नहीं खोलनी चाहिये, होंठ सी लेने चाहिएँ। यही इस प्रीति के खेल की रीति है। जो शिष्य गुरु की दया प्राप्त करके लोगों की प्रशंसा पाने के लिये उसे बताना शुरू कर देता है, वह अपनी कमाई को गँवाकर पश्चात्ताप करता है। भाई साहिब के अनुसार, यह उसी प्रकार है जैसे फ़ारसी लिपि में लिखे शब्द 'महरम' के नीचे केवल नुकता लग जाये तो वह 'मुजरिम' बन जाता है। सो इस मार्ग में जो कुछ पा लिया जाता है, उसे छिपाकर रखना चाहिये:

इकतु नुकतै होइ जाइ महरमु मुजरमु खैर खुआरी।¹

मानस की सब जात एक

कबीर साहिब ने सांसारिक जीवों को समझाया है:

अवल अलह नूर उपाइआ कुदरत के सभ बंदे॥
एक नूर ते सभ जग उपजिआ कउन भले को मंदे॥
लोगा भरम न भूलहो भाई॥
खालिक खलक खलक मह खालिक पूर रहिओ सब ठाई॥¹

गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं:

एक पिता एकस के हम बारिक ...॥²

इसी स्वर में गुरु गोबिन्द सिंह साहिब ने शिक्षा दी है:

हिंदू तुरक कोऊ राफज़ी इमामसाफी,
मानसकी जात सभै एकै पहिचानबो।³

आदि ग्रन्थ में संकलित वाणी इस बात की साक्षी है कि मनुष्यमात्र के उद्धार के लिये प्रयत्नशील सभी संत-सतगुरुओं ने किसी धर्म, मत या वर्ण के प्रति कोई भेदभाव नहीं किया है। जहाँ कहीं भी कोई पाखंड, भ्रष्टाचार, कमज़ोरी उनके ध्यान में आई, उन्होंने निर्भय होकर भेदभाव किये बिना उस पर से परदा उठा दिया। उन्होंने प्यार के साथ समझाया:

सभना मन माणिक ठाहण* मूल मचांगवा†॥

जे तउ पिरीआ दी सिक हिआउ न ठाहे कही दा॥⁴

यदि तुम सचमुच प्रभु से प्यार करना चाहते हो, तो किसी का दिल न दुखाओ, क्योंकि तुम्हारा प्रियतम प्रत्येक हृदय में बसता है। जब भी तुम किसी को दुःख पहुँचाओगे, उसे भी अवश्य पीड़ा होगी:

घट घट मै हर जू बसै संतन कहिओ पुकार॥⁵

भाई गुरदास ने आदि ग्रन्थ की पांडुलिपि तैयार की। उन्हें इसके महान संपादक, गुरु अर्जुन देव जी और उनसे पहले आनेवाले सतगुरुओं की संगति प्राप्त हुई थी। भाई गुरदास ने उनके उपदेश को आस्थापूर्वक अंतरात्मा में बसाकर उस पर अमल किया था, इसलिये उन्हें स्वाभाविक तौर पर प्रचार भी उसी का करना था। आपने लिखा है:

दुहु मिलि जंमे दुइ जणे दुहु जणिआं दुइ राह चलाए।
हिंदू आखनि राम रामु मुसलमाणा नाउ खुदाए।
हिंदू पूरबि सउहिआ पछम मुसलमाण निवाए।
गंग बनारिस हिंदुआं मका मुसलमाणु मनाए।
वेद कतेबा चारि चारि वरन चारि मज़हब चलाए।
पंज तत दोवै जणे पउणु पाणी बैसंतरु छाए।
इक थाउ दुइ नाउ धराए॥⁶

* गिराना।

† अच्छा नहीं।

यद्यपि हिंदू और मुसलमान दोनों एक ही परमपिता की संतान हैं, उन्होंने धर्म के मामले में दो अलग-अलग मार्ग अपना लिये। अपने उसी एक सृजनहार को हिंदू 'राम' कहकर पूजने लगे, जबकि मुसलमानों ने उसका नाम 'खुदा' रख लिया। उसकी आराधना करते समय हिंदू यह मानकर कि उसका निवास पूर्व में है, पूर्व की ओर सिर झुका देते हैं; इसके विपरीत, मुसलमान उसका मुक़ाम पश्चिम मानकर पश्चिम की ओर सजदा करते हैं। एक ने गंगा नदी और बनारस नगर को पवित्र मान लिया, तो दूसरे ने मक्का शरीफ़ को। पहले की धर्मपुस्तक वेद और दूसरे की कुरान कही जाने लगी। यही दशा अलग-अलग जातियों, अलग-अलग मतों की है। वे यह भूले बैठे हैं कि हम साँझो अर्थात् एक ही समान पाँच तत्त्वों से रचे गये हैं और हमारी उत्पत्ति एक ही प्रकार से हुई है। फिर भला अलग-अलग नाम रखने से कैसे हम दो बन गये?

कबीर साहिब ने यही बात बड़ी दिलेरी के साथ कही थी:

जौ तूं ब्राहमण ब्रहमणी जाइआ॥

तउ आन बाट काहे नही आइआ॥⁷

तीसरी आँख

संत-सतगुरुओं की वाणी में नाम के सिमरन का वर्णन बार-बार आता है, जैसे राम सिमर पछुताहिगा॥...¹ या राम सिमर राम सिमर इहै तेरै काज है॥² और 'तीसरे तिल' को नाम के अभ्यास में बहुत महत्त्व दिया गया है। सिमरन का अर्थ होता है, 'स्मरण' या याद करना और उसके लिये वृत्ति का एकाग्र होना आवश्यक है। यदि केवल मुख से परमेश्वर का नाम दोहराते जायें और मन अपने धंधों, ज़मीनों, जायदादों में व्यस्त रहे या सगे-संबंधियों, यार-दोस्तों से संबंधित झगड़ों में लगा रहे तो परमेश्वर का सिमरन कहाँ हुआ? ऐसी अवस्था में भला क्या प्राप्त हो सकता है? इसी लिये गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं:

राम राम सभ को कहै कहिए राम न होए॥

गुर परसादी राम मन वसै ता फल पावै कोए॥³

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये इंद्रियों के विषय हैं और कानों, आँखों आदि शरीर के नौ दरवाज़ों के द्वारा मन प्रायः इनमें ही व्यस्त रहता है। मन खिन खिन भरम भरम बहु धावै...॥⁴ यदि आवारा पशु पराये खेत में जा पहुँचे तो उसे वहाँ से निकालकर संतोष नहीं कर लिया जाता, उसे अन्य फ़सलों को उजाड़ने से भी रोककर रखना पड़ता है। इसलिये जिज्ञासु को चाहिये कि अपने मन को भटकने से रोके धावत राखै ठाक रहाए॥⁵ तथा धावत वरजे ठाक रहाए॥⁶ प्रश्न उठता है कि मन को भटकने से मोड़कर कहाँ लाना है, फिर भटकने से रोककर कहाँ रखना है? हम हॉकी के खेल में देखते हैं, जब पेनल्टी कॉर्नर मिलता है, गेंद मैदान के एक सिरे से 'डी' रेखा पर पहुँचाई जाती है, अगला खिलाड़ी उसे अपने स्थान पर रोकता है और फिर रुकने के स्थान से हिट लगाकर वह गोल में फेंकी जाती है। इसी प्रकार मन को नौ द्वारों से वापस लाकर आँखों से ऊपर, भृकुटियों के मध्य खड़ा किया जाता है, फिर वहाँ से नाम (शब्द) की कमाई द्वारा उसे ऊपर की ओर ले जाया जाता है।

दीवार घड़ी का पेंडुलम दायें-बायें घूमता रहता है, पर जब मशीन की गति बंद हो जाती है, वह मध्य में खड़ा हो जाता है। यह स्थान पेंडुलम का घर कहा जा सकता है, जो हिलने-डुलने से हटकर विश्राम करने का स्थल है। जब गुरु अमरदास जी कहते हैं, मन खिन खिन भरम भरम बहु धावै तिल घर नही वासा पाईऐ॥⁷, तब वे मन की यही शिकायत कर रहे हैं कि वह अपने घर 'तिल' पर नहीं ठहरता, बल्कि इंद्रियों के रसों के प्रति निरंतर आकर्षित होता रहता है। इसी तिल के बारे में गुरु नानक साहिब ने जपु जी में कहा था, तीरथ तप दइआ दत दान॥ जे को पावै तिल का मान॥⁸ अर्थात् जिस किसी को तिल पर स्थिर होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया, समझो कि उसे तीर्थयात्रा, तप, दान आदि सब पुण्य कर्मों

के फल अपने आप मिल गये। यदि मन आँखों के बीच संकल्परहित होकर सिमरन में जुटेगा, तो शब्द की धुन सुनाई देगी, जोत का प्रकाश दिखाई देगा और उनकी सहायता से निज स्वरूप की पहचान होगी तथा प्रभु से मिलाप का अवसर पैदा होगा।

शरीर एक प्रकार का क़िला है जिसमें दस द्वार हैं, नौ संसार की ओर खुलते हैं, दसवाँ सचखंड की ओर खुलता है। यह दसवाँ द्वार कर्तापुरुष ने केवल छिपाकर ही नहीं रखा, बल्कि वज्र के किवाड़ों से बंद भी किया हुआ है। उसे खोलने की एक ही युक्ति है, शब्द का अभ्यास:

नउ दरवाजे काइआ कोट है दसवै गुप्त रखीजै॥

बजर कपाट न खुलनी गुर सबद खुलीजै॥⁹

प्रभु से प्रेम करने का एक बुनियादी नियम है। वह यह है कि जिस जीवात्मा को वह अपनी कृपादृष्टि से कृतार्थ कर दे, अपने गले लगा ले, तो वह इस सम्मान पाने का ढिंढोरा नहीं पीटती, किसी दशा में अपने प्रियतम को प्रकट नहीं करती। इसलिये जब भी कोई अभ्यासी इस प्रेमरस का स्वाद चखता है, तो वह अपने होंठ मानो सी लेता है, कदापि ज़बान नहीं खोलता। नामदेव जी कहते हैं:

जिन हर पाइओ तिनह छपाइओ॥¹⁰

तथा कबीर साहिब:

राम पदारथ पाए कै कबीरा गांठ न खोलह॥¹¹

भाई गुरदास अभ्यासी और उच्चकोटि के विद्वान थे। वे गुरु साहिब के वंश के थे, फिर भी आप नम्रता के पुंज तथा एक आदर्श आज्ञाकारी शिष्य थे। आप जानते थे कि अंदर के अनुभव सतगुरु की ऐसी दात हैं जिन्हें शिष्य द्वारा सबके सामने प्रकट करना उचित नहीं। इसलिये आपकी रचना में जब भी अंदर के ऊँचे मंडलों के अनुभव का वर्णन आया है, संकेतों के रूप में आया है। आप अपने एक कबित्त में लिखते हैं:

सबद सुरति लिव गुरुसिख संधि मिले,
ससि घर सूर पूर निज घर आए हैं।
उलट पवन मन मीन त्रिबेनी प्रसंग,
त्रिकुटी उलंघ सुख सागर समाए है॥¹²

इस वचन की व्याख्या करते हुए ज्ञानी नरैण सिंह लिखते हैं:

“इस कबित्त में गुरु-सिख संप्रदाय की सिमरन की युक्ति, जिसे आजकल के गुरु-सिख छोड़ते जा रहे हैं या यों कह लो कि सहज-योग के तरीके या अजपा-जाप के अभ्यास का वर्णन किया गया है:

“अभ्यासी पुरुष अमृत-बेला में स्नान आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर, कोई नर्म आसन बिछाकर पालथी मारकर बैठ जाये, जिस आसन (बैठक) में तकलीफ़ न हो, उस बैठक से बैठकर मन को एकाग्र करे। जब मन एकाग्र हो जायेगा, तो एक प्रकार का शब्द सुनाई देगा, वह शब्द कोई स्पष्ट नहीं होता, केवल सां-सां या घूं-घूं की ही आवाज़ मालूम होती है। उस शब्द को सुनने के लिये सुरत को जोड़ दो, पर याद यह रखना है कि जब आसन जमाकर बैठो तो पीठ टेढ़ी नहीं होनी चाहिये, दोनों जाँघों पर अपने हाथों की दोनों हथेलियाँ सीधी टिकानी चाहिएँ, ठुड्डी को छाती से चार उँगली की दूरी पर अडोल रखना चाहिये। जब शब्द सुनाई देने लगे तो सुरत को उस शब्द के सुनने में जोड़ देना चाहिये तथा आँखों की दृष्टि को भृकुटियों के बीच में स्थिर रखना चाहिये, इस कर्म का नाम ‘सबद सुरति लिव गुरुसिख संधि मिले’ कहा है।”

अध्यात्म के मार्ग पर चलनेवालों के लिये ‘तिल’ विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि जब वे सफलता की दिशा में चलते हैं तो अपना पहला क़दम इस ठिकाने पर ध्यान को एकाग्र करने के रूप में बढ़ाते हैं। जब सतगुरु की शिक्षा के अनुसार किये गये नाम के अभ्यास के फलस्वरूप शब्द की धुन प्रकट होती है और जोत का प्रकाश दिखाई देने लगता है, तो जिज्ञासु को दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसकी प्रीति प्रियतम के द्वार पर स्वीकार हो गई है, क्योंकि ‘शब्द’ प्रभु की अपनी ही अकथ कथा होता है और

जोत उस परम जोत की अपनी ही लौ। इस अनुभव से उसे अपार प्रसन्नता प्राप्त होती है, इतनी कि बयान करने के लिये उसे शब्द नहीं मिलते।

भाई गुरदास जी कहते हैं कि किसी अभ्यासी के हृदय में ज्योति का प्रकट होना एक बहुत विचित्र घटना होती है और इस प्रकाश से तिल का स्थान जगमगा उठता है, तब उसकी अद्भुत शोभा आश्चर्यजनक हो जाती है:

दरसन जोति कै उदोत असचरज मय,
तामैं तिल छबि परमद्भुत छकि है।¹³

ज्ञानी नरैण सिंह अपनी टीका में लिखते हैं: गुरबाणी में जो तारा चड़िआ लंमा किउ नदर निहालिआ राम॥¹⁴ कहा है उसी तारे को यहाँ तिल कहा है।¹⁵

सतगुरु की दया-मेहर के फलस्वरूप जब जोत का प्रकाश हुआ तो उससे तिल की शोभा का कोई पारावार न रहा और उसकी चमक-दमक के सामने करोड़ों सरस्वती की शोभा का और चंद्रमा की शोभा में ध्यानमग्न रहनेवाले चकोर का अभिमान टूट गया:

किंचित कटाच्छ कृपा तिल की अतुल सोभा,
सरसुती कोट मान भंग ध्यान कोक को॥¹⁶

मनुष्य के स्थूल शरीर में दोनों नेत्रों के मध्य केंद्र में पीछे जो सूक्ष्म तिल है, उसमें संपूर्ण ब्रह्मांड (त्रिलोकी) का प्रतिबिंब है:

प्रीतम की पुतरी मै तनिक तारिका स्याम,
तांको प्रतिबिंब तिल तिलक त्रिलोक को।¹⁷

इसी भाव को भक्त पीपा जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं:

जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै॥
पीपा प्रणवै परम तत है सतगुर होए लखावै॥¹⁸

अर्थात् ब्रह्मांड में जो भी रचना है, उसका प्रतिबिंब पिंड अथवा शरीर में है। इस भेद को वे ही पा सकते हैं जो सही विधि से अपने शरीर के अंदर खोज करते हैं। भक्त पीपा जी कहते हैं कि यह ऐसा परम तत्त्व है जिसे केवल सतगुरु ही अपने शिष्य को अंतर में दिखा सकता है।

इस प्रकाशमान तिल से जो शोभा प्राप्त हुई है, उसके सम्मुख अन्य सभी प्रकार की सुंदरता और प्रभा फीकी पड़ गई हैं। स्पष्ट है कि जिस सतगुरु की दयादृष्टि ने यह करामात दिखाई है, वह सतगुरु साधारण मनुष्य नहीं, प्रभु का सगुण रूप है:

एक तिल कै अनेक भांति निहक्रांति भई,
अबिगति गति गुरु पूरन ब्रह्म है॥¹⁹

उस शोभा का अनुमान लगाने के लिये न कोई तराजू है, न बाट और न तोलनेवाला। वह अनंत है, अपरंपार है:

तिल की अतुल सोभा, तुल न तुलाधार,
पार कै अपार, न अनंत अंत पाए हैं।²⁰

इसी तिल के विषय में जब भाई साहिब यह फ़रमाते हैं:

उसतति उपमा महातम महिमा अनेक,
एक तिल कथा अति अगम अगम है।
बुद्धि बल बचन बिबेक जौ अनेक मिले,
एक तिल आदि बिसमादि कै बिसम है।²¹

तब मानों वे अपनी कलम द्वारा इसकी महिमा लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं। शब्द और ज्योति द्वारा सुशोभित, अनेक महिमाओं, गुणों, मंडलों को धारण करनेवाला यह तिल मन, बुद्धि, तर्क, भाषा आदि किसी की भी पहुँच से परे है। इससे आगे कुछ और कहने या सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कबीर साहिब इस तिल के स्थान को मुक्ति का द्वार कहते हैं:

कबीर मुकत दुआरा संकुरा राई दसएं भाए॥
मन तउ मैगल होए रहिओ निकसो किउ कै जाए॥²²

और गुरु अमरदास जी भी फ़रमाते हैं:

नानक मुकत दुआरा अत नीका नान्हा होए सो जाए॥
हउमै मन असथूल है किउ कर विच दे जाए॥²³

तथा:

नउ दरवाजे दसवै मुकता अनहद सबद वजावणिआ॥²⁴

शरीर के नौ द्वार जीवात्मा को विषय-वासनाओं में लिप्त करके, उसे आवागमन का कैदी बनाकर रखते हैं, जबकि दसवाँ द्वार उसे मुक्ति का अधिकारी बना देता है। इस स्थान की पहचान यही है कि वहाँ अनहद शब्द सुनाई देता है।

वज्रकपाटों के पार परमेश्वर का घर है और जहाँ से उस घर का सफ़र शुरू होता है, वह उस घर की ड्योढ़ी है। इसलिये यह स्थान हुआ घर-दर:

घर दर मंदर जाणै सोई॥ जिस पूरे गुर ते सोझी होई॥²⁵

घर दर महल सतगुरु दिखाइआ रंग सिउ रलीआ माणै॥²⁶

अंतर में ऊपर की यात्रा के दौरान कौन-कौन-से मुकामों से होकर जाते हैं, यह संत-सतगुरु ही जानते हैं, हमारी दुनिया के भूगोल में उनके नाम नहीं मिलते।

7

सारांश



युगों, कल्पों के संदर्भ में मनुष्य की आयु बहुत छोटी है—साठ, सत्तर, अस्सी, अधिक से अधिक सौ वर्ष और उसे बिताने के लिये मिला है शरीर, जो रेतीली मिट्टी का कच्चा फूटता हुआ घड़ा है। हमारे पूर्वजों के हिसाब के अनुसार योनियों की कुल संख्या करोड़ के निकट पहुँच जाती है। इनमें से अधिकतर योनियाँ घटिया मानी जाती हैं, कई उनसे भी बुरी तथा कुछ और बुरी से भी बुरी। मनुष्य-शरीर के अलावा और कोई ऐसा शरीर नहीं जिसमें हम अपनी खुशी से प्रवेश करना चाहें। मनुष्य को मिली काया उसके विशेष बुद्धि युक्त आकाश तत्त्व के कारण सबसे उत्तम है, चउरासीह लख जोनि विचि उत्तमु जनमु सु माणसि देही।¹ ऐसा इसलिये कि इस अवसर का भलीभाँति लाभ प्राप्त करने से बार-बार जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा मिल सकता है और परमात्मारूपी सागर से बिलुड़ी आत्मारूपी बूँद को पुनः अपने स्रोत में समा जाने का अवसर मिल जाता है। इसलिये बुद्धिमत्ता इसी में है कि इस शिरोमणि शरीर की सीमित आयु को इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिये सुरक्षित किया जाये। एक बार खोया यह अवसर न जाने फिर कभी मिले या न मिले, अउसरु चुका हथ न आवै॥²

सतयुग, त्रेता, द्वापर इन तीन युगों में निज कल्याण के उद्देश्य के लिये जप, तप, यज्ञ, दान आदि कई प्रकार के पुण्य कर्मों का प्रचार

और अभ्यास किया जाता रहा, पर कलियुग में एक ही कर्म परमपद का अधिकारी बनानेवाला माना जाता है, वह है—नाम (शब्द) का अभ्यास:

कलिजुगि की सुण साधना करम किरत की चलै न काई। ...

कलिजुगि नावै की वडिआई॥³

यज्ञ, तप आदि कर्म वर्तमान युग के लिये उसी प्रकार निष्फल हो गये हैं जिस प्रकार अपनी उपयोगिता की अवधि बीत जाने पर रामबाण मानी जानेवाली दवा।

हम, हमारे माता-पिता या उनके पूर्वज अपने आप नहीं बन गये। उन्हें एक अगम शक्ति अस्तित्व में लाई और मनुष्य की भाँति शेष सारी सृष्टि की रचना भी उसी कर्तापुरुष ने शब्द द्वारा की, ओअंकारु आकारु करि एक कवाउ पसाउ पसारा।⁴ अलग-अलग श्रेणियों और वर्गों के लोगों को जो नाम जँचा, अच्छा लगा, वे उस सृजनात्मक शक्ति को उसी नाम से समय-समय पर याद करते आये हैं। किसी ने प्रभु या परमेश्वर कहा, किसी ने गॉड, किसी ने खुदा, अल्लाह इत्यादि। ऐसे अपनी मनमरजी के अनुसार जीवों द्वारा रखे नामों को गुरु अर्जुन साहिब ने कृत्रिम नाम कहा है, किरतम नाम कथे तेरे जिहबा॥⁵ ये नाम उन्हें चुननेवालों की तरह अल्पकालीन, नाशवान हैं, जबकि उसका एक अन्य नाम सदैव रहनेवाला अविनाशी भी है, सत नाम तेरा परा पूरबला॥⁶ यह सच्चा नाम अकालपुरुष ने अपने आप को खुद सृजन करने के समान स्वयं ही सृजित किया है, आपीन्है आप साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ॥⁷

जिस नाम को खुद नष्ट हो जाना है, उसकी आराधना किसी को अमरपद कैसे दिला सकेगी? भाई साहिब कहते हैं, सतिनामु बिनु बादरि छाई॥⁸ कि सतनाम (सच्चे नाम) को छोड़कर बाक्री नाम नाशवान हैं, बादल की छाया की तरह बिखर जाते हैं।

यह नाम किसी पुस्तक को पढ़ने से नहीं मिलता, न ही इसका पता कहीं से सुन-सुनाकर लगता है। यह अमूल्य सिक्का परमेश्वर ने अपनी निजी टकसाल में तैयार करके उपयोग में लाने के लिये गुरु को सौंपा हुआ है,

सच सबदु गुरि सउपिआ सच टकसालहु सिका चलिआ।⁹ यह गुरु के सिवाय और कहीं से नहीं मिलता, सचु नाउं करतार गुरुमुखि पाईऐ।¹⁰

सतगुरु जिज्ञासु पर दयालु होता है तो उसे दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लेता है, सतिगुरु तुटै पाईऐ साध संगति गुरुमति गुरु सिखी॥¹¹ सतगुरु अपने शिष्य का अहंभाव दूर करके, उसे विषय-विकारों से मोड़कर हुक्म माननेवाला हुक्मी बंदा (आज्ञाकारी सेवक) बनाकर, निर्मल करके अपने अंदर ऐसे समा लेता है जैसे बूंद को सागर, गुरुमुख सागर ज्यों बूंद हैं समाई।¹² जीवात्मा के उद्धार का यह उपकार परमात्मा स्वयं ही करता है, क्योंकि वही गुरु के रूप में नाम का भंडारी बनकर आता है, गुरु परमेश्वर इकु है सचा साहु जगतु बणजारा।¹³

जिस प्रकार की आदर्श शिष्यता के लिये भाई गुरुदास जी अपने पाठकों को प्रेरित करते हैं, उसे 'खंडेधार गली' भी कहा जाता है, हालाँकि वह केवल शुरू में ही फीका लगता है; परंतु रूहानी अभ्यास में प्रगति होने पर जब उसका अमृत पीने को मिलता है तब पता चलता है कि वह एक ऐसी अनमोल वस्तु है जिसके मिठास की तुलना संसार के किसी रस से नहीं की जा सकती, सिल अलूणी चटणी तुलि न लख अमिआ रस इखी।¹⁴ वह गृहस्थी में रहकर अभ्यास किया जानेवाला सुरत-शब्द का सहज योग है।